स्वदेशी चिकित्सा

स्वावलम्बी और अहिंसक उपचार

डा. चंचलमल चोरडिया

स्वदेशी चिकित्सा

स्वावलम्बी और अहिंसक उपचार

लेखक
डॉ. चंचलमल चोरडिया

स्वराज प्रकाशन समूह

स्वदेशी चिकित्सा
स्वावलम्बी और अहिंसक उपचार

लेखक
डॉ. चंचलमल चोरड़िया

पहला संस्करणः अप्रैल – 2004 (2000 प्रतियां)

प्रकाशक

मूल्य : 20 रुपये

विषय सूची

लेखक की ओर से

भौतिक विज्ञान के तीव्र विकास से स्वास्थ्य विज्ञान भी प्रभावित हुआ और आधुनिक चिकित्सा के नाम से विख्यात एलोपैथिक चिकित्सा सारे विश्व में मान्य हो गई। शल्य चिकित्सा के द्वारा पूर्व में असाध्य समझे जाने वाले रोगों का उपचार सम्भव होने लगा। यंत्रों और रासायनिक परीक्षणों के आधार पर निदान को जनसाधारण स्वीकारने लगा। उपचार में तुरन्त राहत मिलने के कारण चिकित्सा के दुष्प्रभावों के बावजूद एलोपैथिक चिकित्सा को ही सर्वश्रेष्ठ मान अन्य चिकित्साओं को वैकल्पिक समझ जनसाधारण की उनके प्रति उपेक्षा होने लगी, परन्तु वास्तव में स्थिति ठीक इसके विपरीत है। एलोपैथिक चिकित्सा सभी रोगों में सदैव प्रभावशाली भी नहीं होती। आज उपचार किया जाता है, होता नहीं है। उपचार न तो सहज है, न सरल है, न सस्ता है। आज की महंगी चिकित्सा व खर्चीली दवाइयों का उपयोग जनसाधारण के लिए सम्भव नहीं जनसाधारण किसी बात को तब तक स्वीकार नहीं करता, जब तक उसे आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रमाणित और मान्य नहीं कर दिया जाता। परन्तु चिकित्सा के क्षेत्र में आधुनिक चिकित्सकों की सोच आज भी प्रायः शरीर तक ही सीमित होती है। मन एवं आत्मा के विकारों को दूर कर मानव को पूर्ण स्वस्थ बनाना उनके सामर्थ्य से परे है। फलतः आधुनिक चिकित्सा में अहिंसा–हिंसा, करणीय–अकरणीय, न्याय–अन्याय, वर्जित–अवर्जित, भक्ष्य–अभक्ष्य का विवेक उपेक्षित एवं गौण होता है। जो प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों के विपरीत होने के कारण उपचार अस्थायी, दुष्प्रभावों की सम्भावनाओं वाला हो सकता है। वास्तव में जो चिकित्सा शरीर को स्वस्थ, शक्तिशाली, ताकतवर, रोगमुक्त बनाने के साथ–साथ मन को संयमित, नियन्त्रित, अनुशासित और आत्मा को निर्विकारी, पवित्र एवं शुद्ध बनाती है।

विभिन्न चिकित्स पद्धतियों से जुड़े चिकित्सकों से विनम्र अनुरोध है कि वे अपने और अपनी चिकित्सा के अहंकार को छोड़ व्यापक दृष्टिकोण अपनाएँ ताकि पीड़ित मानवता को सहज, सस्ती, स्थायी, स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध हो सकें।

मैं आभारी हूँ मेरे स्वर्गीय माता–पिता एवं स्वर्गीय जैनाचार्य हस्तीमलजी महाराज साहब का जिन्होंने मेरे जीवन में सद् संस्कारों का रोपण किया। मैं आजादी बचाओ आन्दोलन और राजीव भाई का भी आभारी हूँ कि आंदोलन की तरफ से भी यह किताब छप रही है। मुझे पूरी आशा है कि यह किताब अपने उद्‌देश्य में पूरी तरह सफल रहेगी।

डॉ. चंचलमल चोरडिया

प्रस्तावना

आजादी के 55 साल बाद जब हम नई सदी में प्रवेश कर चुकें हैं। तब विकास के पैमानों के ऊपर पुनर्विचार फिर से शुरू हुआ है। पश्चिम के विकास की अवधारणा ने दुनिया की अन्य सभ्यताओं के विकास की अवधारणाओं को बहुत पीछे छोड़ दिया है। इसकी बजह से दुनिया में सभी तरफ पश्चिम का विकास ही दिखाई देता है।

इसी तरह आधुनिक विज्ञान (पश्चिमी आधुनिक विज्ञान) ने दुनिया के अन्य तमाम सभ्यतागत विज्ञान को लगभग खत्म ही कर दिया है। यह सब कुछ बहुत सोच समझकर रणनीतिं के तहत किया गया है। इन सब का इतिहास हम किताबों में पढ़ सकते है।

स्वास्थय का सवाल मानव समाज के लिए हमेशा से महत्त्वपूर्ण रहा है। उसके साथ–साथ स्वस्थ कैसे रहे यह भी हर समाज अपने तरीके से सोचता आया है। लेकिन आधुनिक चिकित्सा पद्धति (ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति) ने स्वस्थ रहने के सवाल पर कोई नजरिया पेश ही नहीं किया बल्कि अस्वस्थ होने की स्थिति में ढ़ेर सारी दवाई देने के तरीके खोज निकाले है। इस वजह से दवा उद्योग भी काफी तेजी से बढ़ा है और मरीजों की संख्या भी बढ़ती गयी है। यह आश्चर्यजनक बात है कि एक तरफ डॉक्टर भी बढ़ रहे है, हॉस्पिटल भी बढ़ रहे है और मरीज भी बढ़ रहे है।

गांधीजी ने इस बात पर काफी जोर दिया था कि यदि हम स्वस्थ रहने के बारे में समाज के लोगों को जाग्रत करें तो लोग कम से कम बीमार पड़ेगें। यह सिद्धांत सभी वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों में अपनाया जाता है। इसीलिये आज यह आवश्यकता है कि इस सिद्धांत को आगे बढ़ाया जाये।

इसी के फल स्वरूप डॉ चंचलमल चोरड़िया की यह किताब आंदोलन द्वारा प्रकाशित की जा रही है। डॉ चंचलमल चोरड़िया वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों के विशेषज्ञ हैं। पूरे देश में जगह–जगह उनके शिविर लगते हैं और रोगियों को उनके उपचार से काफी लाभ भी मिलता है। हम उनके आभारी है कि जनहित के लिए उन्होंने यह पुस्तक आंदोलन को प्रकाशित करने की अनुमति दी।

आशा है सभी सुधी पाठकों को इस किताब से अवश्य लाभ मिलेगा।

राजीव दीक्षित
आजादी बचाओ आंदोलन

प्रभावशाली स्वावलम्बी अहिंसात्मक उपचार पद्धतियाँ

क्या स्वास्थ्य हेतु समान मापदण्डों का निर्धारण सम्भव है?

दुनियाँ में कोई भी दो व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से एक जैसे नहीं हो सकते हैं? क्या उनके जीवन का लक्ष्य, प्राथमिकताएँ, कर्त्तव्य, आवश्यकताएँ, समस्याएँ आदि भी एक जैसी ही होती हैं? अतः बाह्य रूप से कुछ लक्षणों में समानता होने के बावजूद, एक–जैसी दवा अथवा उपचार करना, किसी एक रोग के नाम से रोगी का परिचय करना, सहयोगी रोगों की उपेक्षा करना कहाँ तक उचित है?

जितनी और जैसी रोग की स्थिति, उसके अनुरूप ही समाधान अपेक्षित होता है। जिसकी जितनी बुद्धि विवेक, पात्रता, समझ और क्षमता होती है, उसको उसी के अनुरूप समाधान अथवा परामर्श दिया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार, आवास–प्रवास, आयु व्यवसाय, कर्त्तव्य एवं जिम्मेदारियाँ, रूचि, स्वभाव, सहनशक्ति, सोच, शारीरिक और मानसिक क्षमता, पारिवारिक एवं व्यावसायिक परिस्थितियाँ, रीति–रिवाज, धार्मिक संस्कार और मान्यताएँ, मौसम की स्थिति और बदलाव, सहयोगी एवं द्वेषी लोगों का योग आदि दैनिक जीवन में ऐसे अनेकों कारण होते हैं जो व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, व्यक्ति में तनाव अथवा प्रसन्नता का कारण बनते हैं।

क्या हमारी भावनाओं, आकांक्षाओं, संकल्पों, विकल्पों, आवेगों, संवेदनाओं, इन्द्रियों के विषयों की ग्रहण शक्ति की विभिन्नता का स्वास्थ्य से संबंध होता है? क्या हमारा मनोबल, सहनशक्ति, उत्साह, सकारात्मक सोच, खुशी के प्रसंग आदि स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं? विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण किए गए एक जैसे विषय जैसे: देखना, सुनना, बोलना, स्वाद, सुगन्ध, स्पर्श सभी व्यक्तियों पर एक–सा प्रभाव क्यों नहीं डालते? उनके प्रति रूचि अथवा अरूचि क्या हमारे स्वास्थ्य

की अभिव्यक्ति नहीं करती? कहने का आशय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति पर उपर्युक्त बातों का अलग–अलग प्रभाव पड़ता है, जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति का अलग–अलग होता है। दूसरी बात कुछ व्यक्ति वर्तमान में तो लगभग स्वस्थ होते हैं। जो व्यक्ति लम्बे समय से रोगी होते हैं, उनकी प्राथमिकताएँ होती हैं– रोग का फैलाव रोकना तथा आंशिक स्वस्थता अथवा राहत प्राप्त करना। जो व्यक्ति मरणासन पर है, असाध्य भयंकर अथवा संक्रामक रोगों से पीड़ित है अथवा किसी भी प्रकार की विकलांगता से ग्रस्त है, रोगों की भीषणता में आंशिक सुधार से ही वे खुशी का अनुभव कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य के अलग–अलग स्तर पर जीता है और उनके स्वास्थ्य के अपने अपने अलग–अलग मापदण्ड होते हैं। अलग–अलग आवश्यकताएँ, प्राथमिकताएँ एवं सोच होती है। अतः स्वास्थ्य हेतु सभी के लिए एक–जैसा मापदण्ड, परामर्श, निर्देश और आचरण न तो उचित ही होता हैं और न सम्भव

परन्तु आज स्वास्थ्य का परामर्श देते समय अथवा रोग की अवस्था में निदान करते समय प्रायः अधिकांश चिकित्सक अथवा स्वास्थ्य विशेषज्ञ व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले उपर्युक्त प्रभावों का समग्रता से विश्लेषण नहीं करते।

स्वास्थ्य हेतु चिकित्सा के विभिन्न दृष्टिकोण

रोग की अवस्था में आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीर में वात, पित्त और कफ का असन्तुलन होने लगता है। आधुनिक चिकित्सक को मल, मूत्र, रक्त आदि के परीक्षणों में रोग के लक्षण और शरीर में रोग के कीटाणुओं तथा वायरस दृष्टिगत होने लगते हैं। प्राकृतिक चिकित्सक ऐसी स्थिति से शरीर के निर्माण में सहयोगी पंच तत्त्व पृथ्वी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश का असन्तुलन अनुभव करते हैं। एक्यूपंक्चर एवम् एक्यूप्रेशर के विशेषज्ञों के अनुसार शरीर में यिन–यांग का असंतुलन हो जाता है। एक्यूप्रेशर के प्रतिवेद बिन्दुओं की मान्यता वाले थेरेपिष्टों को व्यक्ति की हथेली और पगथली में विजातीय तत्त्वों का जमाव प्रतीत होने लगता है। सुजोक बायल मेरेडियन सिद्धान्तानुसार रोगी के शरीर में पंच ऊर्जाओं (वायु, गर्मी, ठण्डक, नमी और शुष्कता) का आवश्यक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। चुम्बकीय चिकित्सक शरीर में चुम्बकीय ऊर्जा का असन्तुलन अनुभव करते हैं। ज्योतिष शास्त्री ऐसी परिस्थिति का कारण प्रतिकूल ग्रहों का प्रभाव बतलाते हैं। आध्यात्मिक योगी ऐसी अवस्था का कारण पूर्वाजित अशुभ वेदनीय कर्मों का उदय मानते हैं। होम्योपेथ और बायोकेमिस्ट की मान्यतानुसार शरीर में आवश्यक रासायनिक तत्त्वों का अनुपात बिगड़ने से ऐसी स्थिति उत्पन्न होने लगती है। आहार विशेषज्ञ शरीर में पौष्टिक तत्त्वों का अभाव बतलाते हैं। शरीर में अम्ल–क्षार, ताप–ठण्डक

का असन्तुलन बढ़ने लगता है। कहने का आशय यही है कि विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ अपने–अपने सिद्धान्तों के अनुसार शरीर में इन विकारों की उपस्थिति को रोग अथवा अस्वस्थता का कारण मानते हैं। जो जैसा कारण बतलाता है, उसी के अनुरूप उपचार और परहेज रखने का परामर्श देते हैं। सभी को आंशिक सफलताएँ भी प्राप्त हो रही है तथा सफलताओं एवं अच्छे परिणामों के लम्बे–लम्बे दावे अपनी–अपनी चिकित्सा पद्धतियों के सुनने को मिल रहे हैं। विज्ञान के इस युग में किसी पद्धति को बिना सोचे–समझे अवैज्ञानिक मानना, न्याय–संगत नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना अवश्य है कि अधिकांश चिकित्सा पद्धतियाँ रोग के मूल कारणों को समझने एवं दूर करने में अपने–आपको असमर्थ पा रही है। क्योंकि उनके चिन्तन में समग्रता का अभाव होता है। जिसका जितना ज्यादा विज्ञापन, प्रचार–प्रसार होता है, उस पद्धति का बिना सोचे समझ रोग की अवस्था में रोगी और उसके परिजनों की असजगता, अधीरता, अज्ञानवंश उपचार हेतु प्रायः अन्ध ाानुकरण हो रहा है। परिणाम स्पष्ट है कि डाक्टरों और अस्पतालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि के बावजूद रोग और रोगियों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो रही है, जो स्वास्थ्य के प्रति हमारी अदूरदर्शिता, गलत चिन्तन, अप्राकृतिक जीवनशैली, अज्ञान, अविवेक एवं गलत सोच का सूचक है।

आज उपचार के नाम पर रोग के कारणों को दूर करने के बजाय अपने–अपने सिद्धांन्तों के आधार पर रोग के लक्षण मिटाने का प्रयास हो रहा है। उपचार में समग्र दृष्टिकोण का अभाव होने से तथा रोग का कारण पता लगाये बिना उपचार किया जा रहा है अर्थात् रोग से राहत ही उपचार का लक्ष्य बनता जा रहा है। अतः अच्छा स्वस्थ्य जीने की भावना रखने वालों को स्वास्थ्य के मूलभूत सनातन प्राकृतिक साधारण नियमों का ईमानदारी पूर्वक सजगता एवं स्वविवेक से पालन करना चाहिये। जितना–जितना हमारा प्रकृति के साथ तालमेल होगा, उतना–उतना हम स्वस्थता के समीप होते जाएंगे। आकस्मिक दुर्घटनाओं को छोड़ अन्य परिस्थितियों में रोग का सही कारण जानने का भी प्रयास करना चाहिये, ताकि रोग की पुनरावृत्ति और उपचार के दुष्प्रभावों से स्वयं को बचाया जा सके।

उपचार की आवश्यक प्राथमिकताएँ :–

स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक है कि हम स्वाभाविक प्राकृतिक जीवन जीएँ। रोग उत्पन्न करने वाले कारणों से यथा सम्भव बचने का प्रयास करें। शरीर, मन ओर आत्मा के विकास में जो सहायक हैं, ऐसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचरण के संवर्द्धन हेतु सतत प्रयत्नशील रहें। शरीर, मन और आत्मा पर जो विकार हैं, उन्हें प्राथमिकता के आधार पर दूर करने का सम्यक् पुरुषार्थ करने से ही हम स्थायी स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते हैं। फिर भी रोग उत्पन्न हो जायें तो उपचार करते अथवा करवाते समय इस बात का अवश्य विवेक रखें कि उपचार

यथासंभव आहिंसक हो, स्वावलम्बी हो, प्रत्यक्ष –परोक्ष रूप से अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने वाला अथवा स्वाधीनता का हस्तक्षेप करने वाला न हों। यदि उपर्युक्त मापदण्डों की उपेक्षा की जायेगी तो शरीर अथवा मन का उपचार आत्मा को कर्म बंधनों से जकड़ देगा, जिसका भविष्य में अधिक दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा। ऐसा प्रयास कर्जा चुकाने के लिये ऊँचे ब्याज पर कर्जा लेने के तुल्य होगा। नौकर को सेठ से अधिक महत्त्व देने के समान अविवेकपूर्ण होगा। अतः शरीर का उपचार करते समय आत्मा की उपेक्षा न हो इस बात का विशेष ख्याल रखना चाहिये। ऐसे ही उपचारों का संक्षिप्त सैद्धान्तिक विवरण और चन्द विधियाँ यहाँ बतलाई जा रही हैं–

उपचार प्रांरम्भ करने से पूर्व बाह्य शारीरिक संतुलन जैसे–पैरों, गर्दन, नाभि, मेरूदण्ड आदि का आवश्यक होता है। इन असंतुलनों को दूर किये बिना कोई भी उपचार स्थायी और प्रभावशाली नहीं हो सकता। तत्पश्चात् पूर्ण सजगता के साथ रोग का सही निदान आवश्यक है। जितना निदान आंशिक अथवा अधूरा होगा उतना ही उपचार भी अपूर्ण होगा जो भविष्य में अधिक हानिकारक हो सकता है। ऐसा उपचार मात्र रोग, दर्द, पीड़ा में तात्कालिक राहत दिला सकता है, पूर्ण रोग मुक्ति नहीं। निदान हेतु रोगी की सजगता, चिकित्सक से रोग के कारणों पर सम्यक् तर्क पूर्ण चर्चा आवश्यक है। क्योंकि आधुनिक चिकित्सक भी रोग में रोगी के मानसिक और भावात्मक कारणों को समझने में असमर्थ होने के कारण उनकी पूर्ण उपेक्षा करते प्रायः पाये गये हैं।

क्या शरीर में अकेला रोग हो सकता है?

हमारे शरीर में प्रायः सैकड़ों रोग होते हैं। जिनकी उपस्थिति का हमें आभास तक नहीं होता है। हम तब तक रोग को रोग नहीं मानते, जब तक उनके लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो जाते या हमे परेशान करने नहीं लग जाते अथवा रोग हमारी सहनशक्ति से परे नहीं होने लगता है।

रोग के जो लक्षण बाह्य रूप से प्रकट होते हैं, अथवा पेथालोंजिकल टेस्टों एवं यंत्रों की पकड़ में आते हैं, वे लक्षण तो सामान्य ही होते है, जिनके आधार पर प्रायः रोगों का नामकरण किया जाता है। चिकित्सा पद्धतियों के अधिकांश चिकित्सक भी अपने सिद्धान्तों के अनुरूप निदान करने के स्थान पर उसी निदान को शत प्रतिशत सही मान अपने अपने ढंग से उन रोगों का उपचार करते हैं। पुराने अनुभवी वैद्य रोगी की नाड़ी देख कर रोग का सही निदान करने में सक्षम थे। परन्तु आज आयुर्वेद में भी निदान का वह आधार गौण होता जा रहा है। इसी कारण उसका प्रभाव भी दिन प्रतिदिन घटता जा रहा है। ठीक उसी प्रकार एक्यूप्रेशर की सुजोक अथवा रिफ्लेक्सोलोजी के अनुसार हथेली और पगथली के जिन स्थानों पर दबाव देने से दर्द होता है, वे सारे स्थान शरीर में रोग के पारिवारिक सदस्य होते हैं, जितना अधि

ाक दर्द उतना रोग निवारण हेतु प्रभावशाली प्रतिवेदन बिन्दू। परन्तु आज अधिकांश एक्यूप्रेशर चिकित्सक भी अपने सहज सरल, सही निदान के तरीकों से दूर हट, आधुनिक निदान के आधार पर प्रदर्शित रोग को ही उपचार करते हैं। परिणाम स्वरूप उपचार की प्रभावशालीता न केवल कम हो जाती है, अपितु उपचार आंशिक होने से लम्बा भी हो जाता है।

क्या समान लक्षणों वाले दो रोगी एक जैसे हो सकते हैं?

कहने का तात्पर्य यही है कि दुनियाँ में जब दो व्यक्ति एक जैसे नहीं हो सकते, तब दो रोगियों और उनका निदान एक जैसा कैसे हो सकता हैं? वास्तव में आज लक्षणों के आधार पर जिन रोगों का नामकरण किया जाता है, वे अनेक रोगों के समूह के नेता की भांति होते हैं। जिन्हें सैकड़ों अप्रत्यक्ष रोगों का सहयोग प्राप्त होता है। जनतन्त्र में नेता को हटाने का सरलतम उपाय है कि उसके सहयोगियों को उनसे अलग करना। सहयोगियों को अलग किये बिना नेता को हटाना सरल नहीं होता। ठीक उसी प्रकार निदान करते समय, यदि अप्रत्यक्ष रोगों की उपेक्षा करें तो, निदान और उस पर आधारित उपचार आंशिक अथवा अधूरा ही होता है।

स्वाद और रोग

किसी व्यक्ति को खट्टा तो किसी को मीठा, किसी को नमकीन तो किसी को चटपटा, क्यों अच्छा लगता हैं? क्या इन स्वादों की पसन्द या अरूचि का स्वास्थ्य से कोई संबंध होता है? मधुमेह वालों को मिठाई और रक्तचाप के रोगियों को नमक छोड़ने की क्यों सलाह दी जाती है? शरीर में उन स्वादों का नियन्त्रण कौन करता है? क्या अपनी इच्छानुसार जब चाहें स्वादों के प्रति लगाव बदला जा सकता है? क्या स्वादों का रोग से संबंध होता हैं?

गंध ओर रोग

चन्द व्यक्ति अत्यधिक सुगन्ध प्रिय होते हैं। चन्द तनिक भी दुर्गन्ध सहन नहीं कर सकते। कुछ व्यक्तियों को दूर में कुछ भी जल रहा हो, सहज आभास हो जाता है, तो कुछ लोगों को समीप में जलने का भी आभास नहीं होता। किसी के शरीर से एक प्रकार की गंध आती है और अन्य के शरीर में दूसरे प्रकार की। ऐसा क्यों? क्या शरीर से निकलने वाली तथा बाहिर से आने वाली गन्धों के प्रति रूचि अथव अरूचि के भाव का स्वास्थ्य से कोई संबंध होता है? क्या गन्ध का नियन्त्रण एक मात्र नाक से संबंधित हैं? क्या गन्ध के प्रति हमारी प्रकृति को दवा द्वारा मन चाहा बदलना संभव है? क्या गंध निदान को प्रभावित करती है?

निदान में अंगों में प्रवाहित होने वाली ऊर्जा प्रवाह के क्रम की भूमिका

शरीर में स्थित मेरेडियनों में ऊर्जा के प्रवाह का एक निश्चित क्रम होता हैं। प्रत्येक मेरेडियन में प्रवाह किसी अन्य मेरेडियन से आता हैं और किसी दूसरी मेरेडियन में आगे जाता हैं। अतः रोग की अवस्था में संबंधित अंग में विशेष ध्यान देना चाहिये ताकि निदान सही हो सके। जैसे फेंफड़ें मेरेडियन में ऊर्जा का प्रवाह तिल्ली मेरेडियन से आता हैं और आगे बड़ी आतं मेरेडियन में जाता हैं। अतः दमा अथवा फेंफड़ों से संबंधित अन्य रोगों में तीनों मेरेडियनों में ऊर्जा प्रवाह नियमित और संतुलित करने से प्रभावशाली स्थायी परिणाम आते हैं। एलर्जी अस्थमा का मुख्य कारण तिल्ली मेरेडियन में ऊर्जा के प्रवाह असंतुलन प्रायः होता है। अन्य प्रकार के पुराने दमा का कारण प्रायः बड़ी आंत मेरेडियन में ऊर्जा प्रवाह का असंतुलन हो सकता है।

हृदय मेरेडियन में ऊर्जा गुर्दे मेरेडियन से आती हैं और छोटी आंत मेरेडियन में जाती हैं। अतः तीनों एक दूसरे से संबंधित होते हैं। इसी प्रकार पेरीकार्डियन मेरेडियन में ऊर्जा लीवर मेरेडियन से आती है और ट्रीपल वार्मर मेरेडियन में जाती हैं। स्पलीन मेरेडियन पित्ताशय मेरेडियन से आती हैं और फेंफड़े में जाती हैं। इसी कारण प्राणायम और पाचन तंत्र के संतुलन से मधुमेह जो स्पलीन से विशेष संबंधित होता है, नियन्त्रित किया जा सकता है। गुर्दे मेरेडियन में प्रवाह मूत्राशय से आता है और हृदय में जाता हैं। लीवर मेरेडियन में प्रवाह आमाशय से आता है और पेरीकार्डियन मेरेडियन में जाता हैं। अतः पुराने रक्तचाप और हृदय रोग का कारण गुर्दे मेरेडियन में ऊर्जा के प्रवाह का असंतुलन भी हो सकता है।

निदान को प्रभावशाली बनाने में सहयोगी—सामान्य जानकारी

असाध्य एवं पुराने संक्रामक रोगों का उपचार करने से पूर्व उपर्युक्त चर्चित अन्य बातों के साथ साथ यदि निम्न बातों की भी जानकारी लेने से निदान अधिक सही एवं सरल हो जाता हैं।

1. रोगी के रोग का पिछल इतिहास—जन्म से अथवा उसके बाद भूतकाल में घटित दुर्घटना अथवा विशेष रोग संबंधी जानकारी।
2. रोगी की मुख्य शिकायते।
3. पैतृक रोग एवं अन्य परिजनों के रोग संबन्धी जानकारी।
4. व्यवसायिक वातावरण एवं कार्य संबंधी जानकारी।
5. शौक अथवा दुर्व्यसनों के सेवन संबन्धी जानकारी।
6. पारिवारिक स्थिति।
7. आवास व्यवस्था।

8. भूख, प्यास, मल एवं मूत्र त्याग संबंधी सामान्य जानकारी।

9. खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार, चिन्तन–मनन, सजगता स्वभाव, संस्कारों, निर्णय लेने की क्षमता एवं विवेक संबंधी जानकारी।

10. दृढ़ता, मनोबल की स्थिति, तर्क शक्ति आदि की जानकारी

उपर्युक्त बातों की जितनी सही जानकारी प्राप्त होती है, उतना ही निदान प्रमाणिक और विश्वसनीय हो जाता है। अतः निदान करते समय चिकित्सक का स्वविवेक, अनुभव और समग्र दृष्टिकोण की अहं भूमिका होती है।

क्या एक जैसे लक्षणों का संबंध अलग–अलग अंगों से हो सकता है?

अतः जब तक रोग के मूल कारण को मालूम नहीं किया जाता है, तब तक निदान कैसे विश्वसनीय और सही हो सकता है? और ऐसा उपचार स्थायी एवं प्रभावशाली कैसे हो सकता है? ऐसे ही कुछ लक्षणों से विभिन्न अंगों के संबंध का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है–

रोग के लक्षण	सम्बन्धित अंग
1. मूत्र संबंधी रोग	गुर्दे–मूत्राशय में गड़बड़ी के कारण
2. मल त्याग संबंधी रोग	फेंफड़े–बड़ी आंत अथवा यकृत–पित्ताशय में गड़बड़ी के कारण
3. नाड़ी की गति सम्बन्धी रोग	हृदय–छोटी आंत, पेरीकार्डियन–ट्रिपल वार्मर में गड़बड़ी के कारण
4. श्वसन संबंधी रोग	फेंफड़े–बड़ी आंत में गड़बड़ी के कारण
5. पसीना संबंधी रोग	हृदय–छोटी आंत अथवा फेंफड़े–बड़ी आंत या गुर्दे–मूत्राशय में गड़बड़ी के कारण
6. भूख संबंधी रोग	यकृत–पित्ताश या तिल्ली– पेन्क्रियाज / आमाशय में गड़बड़ी के कारण
7. वजन संबंधी रोग	यकृत–पित्ताशय तिल्ली–पेन्क्रियाज / आमाशय अथवा पेरिकार्डियन–ट्रिपल वार्मर में गड़बड़ी के कारण
8. भावनाओं संबंधी रोग	हृदय–छोटी आंत अथवा पेरिकार्डियन –मेरूदण्ड (ट्रिपल वार्मर) में असंतुलन के कारण

स्वावलम्बी चिकित्सा प्रभावशाली क्यों?

'मानव शरीर अपने आप में परिपूर्ण है। इसमें अपने आपको स्वस्थ रखने की पूर्ण क्षमता होती है। हम अनुभव करते हैं कि चेतनाशील प्राणियों में मनुष्य जाति का प्रतिशत तो एक से भी कम होता है। बाकी 99 प्रतिशत जीव अपना सहज जीवन

जीते हैं। वे उपचार हेतु न तो किस चिकित्सक से परामर्श ही करते हैं तथा न किसी प्रकार की दवा भी लेते हैं। हमें चिनतन करना होगा कि जो शरीर अपनी कोशिकाएँ, रक्त, मांस, मज्जा, हड्डियाँ, चर्बी, वीर्य आदि अंवयवों का निर्माण स्वयं करता है, जिसे आधुनिक विकसित विज्ञान पूरी कोशिश के बावजूद नहीं बना पाया। ऐसे स्वचालित, स्वनिर्मित, स्वनियन्त्रित शरीर में, स्वयं के रोग को दूर करने की क्षमता न हो, यह कैसे संभव हो सकता है?

परन्तु आज हमें चिकित्सक और दवा पर जितना विश्वास है, उतना अपने आपकी क्षमताओं पर नहीं है। जिसका दुष्परिणाम है कि साधारण से रोगों में हम स्वयं को अपने अविवेक, अज्ञान, असजगता के कारण चिकित्सकों की प्रयोगशाला बनाते तनिक भी संकोच नहीं करते। शरीर अविभाज्य है। अतः शरीर के किसी भाग की खराबी अथवा असंतुलन से पूरा शरीर प्रभावित होता है। अतः रोगी का उपचार लक्षणों पर आधारित रोगों के स्थान पर पूर्ण शरीर का होना चाहिये। इस दृष्टि से आज अधिकांश चिकित्सकों की सोच मात्र सत्यांश ही होती है। उसमें समग्र दृष्टिकोण का अभाव होने से उपचार अस्थायी होता है। आरोग्य शास्त्र में तन, मन और चित्त, तीनों का एक साथ उपचार होता है, अर्थात् समग्रता से विचार किया जाता है। शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति कम न हो, इस बात को प्राथमिकता दी जाती है। जबकि रोग शास्त्र में रोग के कारणों की अपेक्षा कैसे राहत मिले, प्रमुख होता है।

अतः निदान करते समय इस बात की सजगता और विवेक रखना आवश्यक होता है कि बाह्य रूप से प्रकट होने वाले लक्षणों का संबंध कौन से अंग से होता है? आजकल चिकित्सकों के समग्र चिन्तन का अभाव होने से, मात्र पसीना आने अथवा छाती में दर्द के कारण कभी कभी रोगी का हृदय ठीक होने पर भी उसे हृदय रोगी बतला दिया जाता है, जिससे रोगी की मानसिकता पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। निदान करते समय सम्पूर्ण शरीर को एक इकाई के रूप में समझने से ही निदान सही हो सकता है।

संतुलन और स्वास्थ्य

रोग का प्रारम्भ स्वयं की असजगता

जिस प्रकार यदि परिवार का कोई सदस्य छोटी मोटी भूलें करता है तो परिवार का मुखिया उसको बाहर प्रचारित नहीं करता। ठीक उसी प्रकार शरीर भी रोगों के लक्षणों को प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य रूप से प्रकट नहीं करता। परन्तु हमारे अज्ञान, अविवेक, असजगता एवं शरीर में होने वाले असंतुलन की लगातर उपेक्षा के कारण जब रोग व्यापक रूप धारण कर लेता है, तब ही रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और हम उपचार की आवश्यकता समझते हैं। बाह्य रूप से प्रगट होने के पूर्व रोग के लक्षण अपनी अपनी भाषा में बार—बार चेतावनी देते हैं। परन्तु असजग व्यक्ति उन्हें सुनने तथा समझने का प्रयास ही नहीं करते, अपितु पूर्ण उपेक्षा के साथ गौण कर देते हैं।

शरीर के असन्तुलन से सबसे पहले चित्त की प्रसन्नता कम होती है। उसके पश्चात् मन और मस्तिष्क में नकारात्मक सोच आने लगती है। तत्पश्चात् रोग के लक्षण शरीर पर प्रगट होने लगते हैं। शरीर की तुलना हारमोनियम अथवा वीणा से की जा सकती है। यदि हारमोनियम व वीणा का कोई तार ढ़ीला या तंग हो तो स्वर बेसुरा निकलता है। ठीक उसी प्रकार जब तक चित्त, मन और शरीर सन्तुलित नहीं होता, पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

हमारे तंत्र, ग्रन्थियां और ऊर्जा चक्र, अवयव अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं कर पाते, परिणामस्वरूप शरीर की शक्ति क्षीण होने से असंतुलन अथवा अस्वस्थता पैदा होने लगती है। शरीर की चाल बदल जाती है और बाह्य शारीरिक विकास असंतुलिन होने लगता है। जैसे मोटापा अथवा शरीर का बेढंगा होना। उठने, बैठने, खड़े रहने, सोने अथवा चलने फिरने के गलत ढ़ंग से शरीर की प्रक्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

शारीरिक क्रियाओं का वर्गीकरण

जीवित शरीर मुख्य रूप से दो प्रकार की क्रियाओं से संचालित होता है।

प्रथम तो वे क्रियाएँ जो स्वतः संचालित होती है, जिन पर हमारा प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण नहीं होता। ये क्रियाएँ चाहे हम निद्रा में हों अथवा जागृत अवस्था में शरीर में चलती रहती है। जैसे हृदय का धड़कना, रक्त का परिभ्रमण, श्वसन, पाचन, शारीरिक अंगों की कार्यप्रणाली, शरीर में आवश्यक अवयवों एवं कोशिकाओं का निर्माण, अनावश्यक विजातीय तत्त्वों का पूर्ण विसर्जन। जैसे आंख, कान, नाक के मल, पसीना, कफ, मल–मूत्र का विसर्जन आदि। दूसरे शरीर की वे क्रियाएँ जिन्हें व्यक्ति अपनी इच्छाओं द्वारा जागृत अवस्था में कुछ नियन्त्रित कर सकता है। जैसे हलन–चलन, उठना–बैठना, देखना–सुनना, बोलना, हँसना, रोना– खाना–पीना आदि।

संतुलन ही स्वास्थ्य का मूल आधार

हमारा शरीर अपने आप में परिपूर्ण होता है। उसमें रोग से बचने एवं रोग से लड़ने की अपूर्व क्षमता होती है। आवश्यकता है अपनी क्षमताओं को पहचानने समझने तथा उनका सही उपयोग करने की। जितना–जितना हम अपनी क्षमताओं एवं प्राण ऊर्जा का अपव्यय अथवा दुरूपयोग करते हैं, उतने–उतने हम रोगों को आमन्त्रित करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। प्रायः हम शरीर की भाषा को समझने का प्रयास नहीं करते। अपने आपको ध्यान से नहीं देखते। शरीर की बाह्य आकृति को समझने का प्रयास नहीं करते। हमारी चाल कैसी है? हमारे शरीर का कोई भाग आवश्यकता से अधिक ठंडा अथवा गर्म तो नहीं है? शरीर के किसी भाग की त्वचा का रंग तो नहीं बदल गया है? हमें भूख–प्यास, निद्रा नियमित और आवश्यकता के अनुरूप आती है अथवा नहीं? हमारा मल–मूत्र विसर्जन बराबर है अथवा नहीं? तथा उसमें कोई परिवर्तन तो दृष्टिगत नहीं होता आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो शरीर की आन्तरिक स्थिति का हमें संकेत देती हैं।

हमारा शरीर बायां–दायां, बाह्य रूप से एकसा क्यों? सिर में बाल और हाथ–पैरों की अंगुलियों के नाखून ही जीवनभर क्यों बढ़ते रहते है? हाथ और पाँव की बनावट में एकरूपता क्यों? हमारे कान की आकृति गर्भावस्था में गर्भस्थ बालक के शरीर की स्थिति के अनुसार मिलती–जुलती क्यों? चित्र में हथेली का आकार सारे शरीर की बनावट कैसे इंगित करता है?

शरीर के प्रत्येक अंग उपांग अथवा भाग की आकृति का विशेष महत्त्व होता है परन्तु हमारा चिन्तन उस तरफ प्रायः नहीं जाता। शरीर का प्रत्येक भाग और अवयव शरीर के संचालन में सहयोग करता है। जब तक उसमें आपसी सन्तुलन, तालमेल बना रहता है, तभी तक हम स्वस्थ होते हैं। "संतुलन स्वास्थ्य का कवच हैं, तो असंतुलन रोगों का प्रवेश द्वार"। जितना–जितना असन्तुलन व असहयोग बढ़ता जाता है, उतने–उतने स्वास्थ्य से व्यक्ति भटक जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति

को अपने शरीर, मन, भाव व विचारों में होने वाले सूक्ष्मतम परिवर्तनों का चिंतन करना चाहिये और जहाँ कहीं असहयोग अथवा असन्तुलन की स्थिति ध्यान में आती है,उसे सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा दूर करने का तुरन्त प्रयास करना चाहिये।

असंतुलनों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ

शरीर में जब कोई रोग उत्पन्न होता है, तो उसके संकेत बाह्य रूप से अभिव्यक्त होने लगते हैं। जैसे :– भूख न लगना अथवा बहुत अधिक लगना, अनिद्रा अथवा अति निद्रा आना, शरीर से खांसी, हिचकियां, डकारें, गैस बनना, हांफने की आवाज, निद्रा में खर्राटे भरने जैसी ध्वनियाँ निकलना, जल्दी बोलना अथवा हकलाना, हाथ पैर अथवा शरीर के किसी भाग में कम्पन्न होना, शरीर का ठण्डा अथवा गरम हो जाना, बहुत अधिक पसीना आना, चेहरे पर तनाव, भय अथवा दुःख की अभिव्यक्ति होना, मोटापा, गंजापन, समय से पूर्व बालों का सफेद हो जाना आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों की क्षमता कम हो जाना, मल–मूत्र का विसर्जन नियमित न होना इत्यादि, तो असंतुलन की ऐसी अभिव्यक्तियां हैं, जिन्हें हम रोग समझ उपचार द्वारा स्वस्थ करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे असंतुलन होते हैं, जिनकी प्रत्यक्ष अभिव्यंक्ति नहीं होती, अतः हम शरीर में उनकी उपस्थिति को प्रायः रोग का कारण नहीं मानते। इसी कारण प्रायः अधिकांश चिकित्सा पद्धतियों में उनका संतुलन करना पूर्णतया उपेक्षित होता हैं, परन्तु जिनको बहुत ही सरल ढंग से संतुलित किया जा सकता है। जैसेः पगथली का ठण्डा रहना। उठते–बैठते, चलते–फिरते पीड़ा की अनुभूति होना एक पैर का बड़ा अथवा दूसरे पैर का छोटा हो जाना। गर्दन और नाभि केन्द्रों का अपने स्थान से हट जाना। रीढ़ के मणको के आसपास अवरोध आ जाने से नाड़ी संस्थान संबन्धी रोगों का प्रकट होना। मानसिक तनाव, अपाचन अनिद्रा, थकान, कमजोरी अथवा अन्य किसी भी रोग का हो जाना आदि। जब तक इन अंसन्तुलनों को पुनः संतुलित नहीं किया जाता तब तक कोई भी चिकित्सा पद्धति पूर्ण प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकती। जिस प्रकार फूटे हुए घड़े को भरने से पूर्व उसका छिद्र बन्द करना आवश्यक होता हैं। बिना छिद्र बंद किये, कितना ही पानी क्यों न डालें, घड़ा स्थायी रूप से भरा हुआ नहीं रह सकता।

तापक्रम का असंतुलन

शरीर सबसे बड़ा प्राकृतिक वातानुकुलित संयंत्र है। बाहर चाहे जितनी गर्मी एवम् सर्दी क्यों न हो वह अपने को निश्चित ताप पर नियन्त्रित रखता है। यदि वह ताप अनियन्त्रित हो जावे तो हम रोग ग्रस्त हो जाते हैं। शरीर पर आन्तरिक ताप के असंतुलन की अभिव्यक्ति बुखार अथवा कमजोरी के रूप में होती है। बाह्य ताप के प्रभाव से भी हमारा संतुलन बिगड़ जाता है। गर्मी एवम् सर्दी सम्बन्धी रोगों की उत्पत्ति इन्हीं का परिणाम है। अतः गर्मी के प्रकोप से होने वाले रोगों को चन्द्र

नाड़ी (बांये नथूने) से श्वास लेकर ठीक किया जा सकता है। ऐसे रोगियों को दाहिना नथूना बन्द कर श्वास लेना चाहिये। दाहिनी करवट सोना चाहिये। इसके विपरीत जिन्हें सदी के प्रकोप से रोग हो जाय उन्हें सूर्य नाड़ी (दाहिने नथूने) से श्वास लेनी व बांयी करवट सोने से रोग मुक्त होने में सहायता मिलती है।

शरीर गरम अथवा ठण्डक की भाषा समझता है। अतः स्थानीय पीड़ाओं में शरीर का जो भाग ग्रस्त है उसका निरीक्षण करें। यदि वह उष्णता अथवा गरमाश हो तो ठीक उसके दूसरी तरफ उसी स्थान पर रगड़ने, गर्म सेंक करने अथवा बाह्य अन्य किसी भी प्रक्रिया द्वारा शरीर में गर्मी पहुंचाकर दोनों तरफ संतुलन करने से रोग में राहत मिलती है। इसी प्रकार यदि रोग ग्रस्त भाग ठण्डा हो तो उसके ठीक विपरीत भाग में ठण्डे पानी, बर्फ या अन्य किसी विधि द्वारा शरीर में ठण्डक पहुंचाने से रोग में राहत मिलती हैं

शारीरिक असंतुलनों के परीक्षण एवं उपचार की विधियाँ

असंतुलन के लक्षण

व्यक्ति की पगथली शरीर के अन्य भागों से ज्यादा ठण्डी नहीं होनी चाहिये। जिस पगथली पर सारे शरीर का वजन आता है और वही ठण्डी हो, इसका मतलब शरीर में रक्त का प्रवाह विशेष रूप से पैरों में बराबर नहीं होता। अगर पगथली ठण्डी हो तो सर्व प्रथम हथेली से पगथली को इतना रगड़ें कि उसकी ठण्डक दूर हो जाये। इससे हथेली की ऊर्जा भी पगथली को मिल जावेगी। जिससे रोगी के शरीर में रक्त प्रवाह सुव्यवस्थित हो जायेगा तथा उसमें स्फूर्ति आने से उपचार प्रभावशाली हो जायेगा। यदि पगथली को हथेली से रगड़ना संभव न हो तो नायलोन के ब्रुश या अन्य विधि द्वारा रगड़ कर भी पगथली को गरम किया जा सकता है, परन्तु जितना हथेली से रगड़ने पर लाभ होगा उतना भौतिक उपकरणों से रगड़ने पर लाभ नहीं होगा। क्योंकि भौतिक उपकरणों में चेतना का अभाव होता है। हमने प्रायः अनुभव किया है कि जो रोगी मरणासन्न पर होते हैं उनके हाथ पैर ठण्डे पड़ने लगते हैं। अतः यदि उनके परिजन थोड़ा विवेक रख एवं पगथली को गरम करने का प्रयास करें तो व्यक्ति को जीवनदान मिल सकता है। इसीलिये तो हमारे यहाँ लोकोक्ति प्रसिद्ध है – "पैर गरम, पेट नरम और सिर ठण्डा, फिर डाक्टर आवे तो मारो डण्डा" अर्थात् ऐसा व्यक्ति प्रायः स्वस्थ होता है।

शरीर को संतुलित रखने के लिये हमें अपने दोनों पंजों पर शरीर का पूरा वजन देकर जितनी देर बिना कोई सहारा लिए ताडासन में खड़े रहने का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार वज्रासन में बैठने से वीर्य विकार संबंधी सारे

रोग दूर होते हैं। वासना एवं कामेच्छा नियंत्रित रहती है। महिलाओं में सफेद प्रदर नियंत्रित रहता है तथा बच्चों को स्वप्न दोष नहीं होता। बैठने हेतु सुखासन, पद्मासन, वज्रासन तथा गोदुहासन जैसे संतुलित आसनों में अधिकाधिक देर तक सीधी कमर रख कर बैठने का अभ्यास करना चाहिये । प्रारम्भ में हमें कुछ समय बैठने के पश्चात् पीड़ा और दर्द की अनुभूति हो सकती है। परन्तु यदि अभ्यास करते करते हम जितना अधिक इन आसनों में बिना परेशानी बैठ सकें तो हमारा शरीर स्वतः संतुलित हो जायेगा। बिना शारीरिक संतुलन ऐसा संभव नहीं हो सकता। शरीर के संतुलित होते ही हमारी रोग प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ जायेगी और हम स्वस्थ बन जायेंगे। अतः प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को नियमित रूप से अपने शरीर को ऐसी स्थिति में रखने का अभ्यास करना चाहिये। काया की स्थिरता ध्यान साधना का प्रथम चरण हैं। जब तक काया का हलन–चलन स्वच्छंद् ढंग से होगा, अनियंत्रित अस्थिर होगा, ध्यान साधना नहीं हो सकती।

पैरों को संतुलित करने की विधि

हम प्रतिदिन हजारों कदम चलते हैं। यदि हमारे दोनों पैर बराबर न हुये, एक पैर बड़ा और दूसरा छोटा हुआ तो निश्चित रूप से एक पैर पर अधिक दबाव पड़ेगा। फलतः हमारे शरीर का दाहिना और बायां संतुलन बिगड़ने लगेगा। अतः उपचार करते समय या स्वस्थ रहने हेतु दोनों पैरों को संतुलित करना जरूरी होता है।

आज स्वास्थ्य के संबंध में अधिकांश व्यक्तियों का चिन्तन प्रायः नगण्य, अथवा अविवेक पूर्ण और सही नहीं होता। हमारी अधिकतर गतिविधियाँ देखा–देखी, सुनी–सुनाई, विज्ञापन पर आधारित, भीड़ से प्रभावित होती है। प्रायः उसके साथ सम्यक् चिन्तन न होने से कभी–कभी अच्छी प्रवृत्तियाँ भी हानिकारक हो सकती हैं। जैसे जिस व्यक्ति का एक पैर लम्बा और दूसरा पैर छोटा होता है, यदि ऐसा व्यक्ति पैरों का संतुलन किये बिना प्रतिदिन घूमने जाता है, तो उसके लिये घूमना लाभ के स्थान पर हानिकारक भी हो सकता हैं। शरीर के किसी भाग पर अनावश्यक दबाव लगातार पड़ते रहने से वह भाग रोग ग्रस्त हो जाता है। अतः घूमने से पहले शरीर का संतुलन (Alligment अथवा Balance) आवश्यक होता है।

रोगी को सीधा सुलावे। दोनों पैरों के अंगूठें एवम् टखने को पास में रखकर देखें कि दोनों अंगूठे बराबर हैं अथवा नहीं, तथा दोनों टखनों के केन्द्र बराबर हैं अथवा नहीं। यदि दोनों अंगूठे अथवा टखनों के केन्द्र बराबर न हों तो दोनों पैर बराबर नहीं होंगे। जिस पैर का अंगूठा छोटा हो, उस अंगूठे का खींच कर बराबर किया जा सकता है। परन्तु बहुत समय ऐसी स्थिति आती है कि उस अंगूठे को खींचना संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में जिस पैर को बराबर करना हो उस घुटने को पेट से स्पर्श करने का प्रयास करें। अगर ऐसा करना संभव न हो तो, घुटने को

पेट के जितना नजदीक बिना किसी दर्द ले जा सकते हैं, ले जावें। अब यदि छोटे पैर को बड़ा करना हो तो उस पैर की पिण्डली को पकड़ते हुये पैरे को अन्दर की तरफ रोगी का चेहरा देखते हुए जितना सहन हो सके ले जायें। ऐसा करने से छोटा पैर बड़ा हो जाता है। यदि व्यक्ति के किसी पैर में चोट पीड़ा अथवा अन्य किसी कारण तकलीफ हो तो उस पैर को नहीं मोड़ना चाहिये। यदि किसी कारणवश छोटे पैर को घुमाना संभव न हो तो बड़े पैर को छोटा करने के लिये पिण्डलियों से पैर को बाहिर की तरफ इतना मोड़े जितना रोगी सहन कर सके। इस प्रक्रिया से छोटा पैर बड़ा तथा बड़ा पैर छोटा किया जा सकता हैं।

शरीर में मेरू दण्ड का महत्त्व

मेरू दण्ड का संतुलन करने के पहले यह जानना और समझना आवश्यक है कि मेरू दण्ड क्या है? वह शरीर में कहाँ स्थित है तथा उसके क्या क्या कार्य हैं। जो उसके असंतुलन से प्रभावित हो सकते हैं। रीढ़ की हड्डी (मेरू दण्ड) शरीर के पिछले मध्य भाग में होती है। जो खोपड़ी से शुरू होकर नितम्ब तक एक श्रंखला के रूप में कार्य करती है। इसमें कुल 33 हड्डियों के जोड़ होते हैं। जिन्हे मणके, कशेरूकायें, वरटेबरा आदि नामों से पुकारा जाता है। ये मणके साईकल की चेन के समान एक दूसरे के साथ समान दूरी पर जुड़े हुये रहते हैं। जब किन्हीं दो मणकों के बीच की दूरी कम या अधिक हो जाती है। अथवा एक दूसरे से चिपक जाते हैं तो मेरू दण्ड का लोच समाप्त हो जाता है। उनमें तनाव उत्पन्न हो जाता है और असंतुलन होने से विकृति आ जाती है। परिणामस्वरूप सरवायकल स्पोंडोलाईसस, स्लिप डिस्क, जैसी अनेक मेरू दण्ड से संबंधित बीमारियाँ हो सकती है। नाड़ी संस्थान संबंधी अधिकांश रोगों का भी मेरूदण्ड में असंतुलन मुख्य कारण होता हैं।

तीस मणकों में 24 मणके अलग अलग तथा गति वाले होते हैं– जिसमें मेरू दण्ड के सबसे ऊपर गर्दन के भाग में सरवायकल के सात, छाती वाले भाग में थोरोसिक के 12 तथा उसके नीचे पेट वाले भाग में लम्बर के पांच मणके होते हैं। बाकी 9 मणकों में कुल्हे को जोडने वाले पांच मणके मिलकर सैक्रम तथा अन्त में बहुत पतली पूंछ के समान चार मणके मिलकर कोसिक्स का भाग बनते हैं।

ऊपर के गतिशील 24 मणकों के बीच में कुछ खाली स्थान होता है। जिसमें गद्दी सी होती है, जो शोकर अथवा स्प्रिंग का कार्य करती है। ताकि झटका लगने पर, मुड़ने पर, टेढ़ी अथवा खिंचाव होने पर, ये गद्दिया मेरू दण्ड को टूटने, फिसलने अथवा विकृत होने से बचाती है। रीढ़ हमारे शरीर की मुख्य धुरी होती है। जो शरीर को लचकता प्रदान करती है। इसी कारण हम दांये –बांये, आगे–पीछे मुड़ सकते हैं। नीचे झुक सकते हैं। ऊपर देख सकते हैं। पीठ की सारी मांसपेशियां भी मेरू दण्ड के सहारे टिकी रहती हैं।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय स्नायु संस्थान का मुख्य भाग भी मेरू रज्जू (Spinal Cord) रीढ़ की हड्डी में स्थित होता है। मेरू रज्जू के दोनों तरफ थोड़ी थोड़ी दूरी पर स्नायु नाड़ियों के जोड़े निकलते हैं। स्नायु संस्थान शरीर के समस्त संस्थानों एवं अंगों का नियन्त्रण और संचालन करता है। मस्तिष्क को मिलने वाले सारे संदेश और मस्तिष्क द्वारा प्रतिक्रिया स्वरूप भेजे गये आवश्यक निर्देश और आदेश की पालना नाड़ी संस्थान के माध्यम से ही संभव होती है। शरीर का प्रत्येक अंग ज्ञान तन्तु द्वारा संचालित होता है और ये सभी ज्ञान तन्तु प्रत्यक्ष रूप से रीढ़ की हड्डी से जुड़े होते हैं।

असंतुलन का परीक्षण

मेरू दण्ड का नाड़ी संस्थान से गहरा सम्बन्ध होता है। हमारी सारी संवेदनाओं का आदान–प्रदान रीढ़ के माध्यम से होता है। वजन उठने, झुक कर चलने अथवा अन्य किसी कारण से मेरू दण्ड के किसी भाग में ज्यादा खिंचाव आ जाने से रीढ़ असंतुलित होती है। सरवायकल स्पोन्डोलायसिस, साईटिका, स्लीप डिस्क, जोड़ों में दर्द आदि रोगों का कारण मेरूदण्ड का असंतुलन ही होता है। रीढ़ में असंतुलन कितना है? कितने प्रतिशत है? इस बात की जानकारी निम्न विधि द्वारा मालूम की जा सकती है। रोगी को सीधा पालकी आसन में सुलाबें तथा उसकी दोनों हथेलियों को आपस में गर्दन के नीचे रखावें। रोगी का कमर के बल बिना कोई सहारा लिये बैठने का कहें। यदि इस स्थिति में रोगी बैठ जायें तो उसका मेरू दण्ड काफी अच्छा समझना चाहिये और ऐसी स्थिति में रीढ़ का कोई रोग ज्यादा पुराना नहीं होता। अगर रोगी न उठ सके तो मेरू दण्ड में 15 : असंतुलन समझना चाहिये।

दूसरी स्थिति में पैरों को सीधा करके हथेलियों को गर्दन के नीचे रखते हुये बिना सहारा दिये उठने कहें। यदि रोगी इस स्थिति में भी न उठ सके तो es n.M ea20 ls30% असंतुलन समझना चाहिये।

तीसरी स्थिति में दोनों हाथों को जमीन से स्पर्श करते हुए सिर से ऊपर पूरा ले जाते हुये रोगी को सोने को कहें। यदि इस स्थिति में भी बिना सहारा रोगी न बैठ सकता हो तो असंतुलन 30% से भी अधिक समझना चाहिए। तत्पश्चात् रोगी की दोनों पिण्डलियों को दूसरा व्यक्ति दबाये रखे, फिर भी रोगी न बैठे सके तो मेरू दण्ड में 40 से 50% असंतुलन समझना चाहिये। यदि रोगी के दोनों घुटनों को दबाये रखने के बावजूद भी रोगी न बैठ सके तो मेरूदण्ड में 50 से 60% खराबी समझनी चाहिये। जितना अधिक असंतुलन होगा, रोग उतना ही पुराना, संक्रामक होगा और उपचार में समय भी उसके अनुपात में अधिक लगेगा। मेरूदण्ड का असंतुलन निम्न विधि द्वारा सरलता से दूर किया जा सकता हैं।

मेरुदण्ड को संतुलित करने की विधि–

सरवायकल का संतुलन– रोगी को उल्टा सुलावें। रोगी के दोनों हाथ शरीर से स्पर्श करते हुये रखें। फिर चिकित्सक को अपनी दोनों हथेलियों को रोगी के दोनों कानों से लगाते हुये गर्दन को जमीन से थोड़ा उठाते हुये बायें दाहिसने जितनी गर्दन घूम सके धीरे–धीरे 5–7 बार घुमायें। उसके पश्चात् 5 से 7 बार गर्दन को धीरे धीरे ऊपर–नीचे जितनी घूम सकती है, घूमावें। फिर उसी के साथ एक हल्का सा झटका बायें दाहिने दें। ताकि कोई जकड़न हों तो आसानी से निकल जाती है। गर्दन को झटका देते समय इतना ध्यान रखें कि गर्दन पहले जितनी दाहिने बायीं घूम रही थी उससे आधा से ज्यादा न घूमावें।

इस प्रक्रिया से सरवायकल स्पोण्डोलायसिस में शीघ्र आराम मिलता है 4–5 दिन लगातार ऐसा उपचार करने से वर्षा पुराना रोग दूर हो जाता है। लेकिन यह क्रिया विना अभ्यास्त चिकित्सक के नहीं करनी चाहिए।

मेरू दण्ड के नीचे के भाग का संतुलन– उसके पश्चात् रोगी की रीढ़ के दोनों तरफ उसको सहन हो सके उसके अनुरूप ऊपर से नीचे पूरी मेरुदण्ड तक पहले दोनों हथेलियों से, उसके पश्चात् हथेलियों को बंद कर दोनों मुट्ठियों और अंगुठे का दबाव देते हुये तथा अन्त में रीढ़ के दोनों तरफ एक एक मणके पर 5–5 बार अंगूठे से घूमावदार दबाव देवें। तदुपरान्त दोनों पगथलियों की एडियों को घुटनों पर दबाव देते हुये पुट्ठों को स्पर्श करावे। फिर बारी बारी से एक पगथली को टखने से पकड़ कर 5–5 बार उल्टा सीधा, बायें–दाहिने, आगे–पीछे 5–5 बार घूमावें। उसके पश्चात दोनों पैरो के अंगूठों और अंगुलियों को 5–5 बार गोल गोल उल्टा सीधा घूमावें तथा झटका देते हुये हथेली को छोड़े। फिर अंगूठे को एक हथेली में तथा बाकी चार अंगुलियों को दूसरी हथेली मे पकड़ आगे पीछे 5–5 बार घूमावें। इसी प्रकार एक हथेली में एक एक कम करते हुये 5–5 बार घूमावें। इस प्रक्रिया से पूरे शरीर की नाड़ी संस्थान में आये अवरोध दूर होने लगते हैं। विशेष रूप से स्लीप डिस्क, साईटिका तथा ऐडी से लगाकर गर्दन के सभी प्रकार के रोगों में शीघ्र आराम मिलता है। पुराने से पुराने स्लीप डिस्क, के रोगी जिन्हें डाक्टर पूर्ण आराम की सलाह देते हैं और महिनों आराम के बाद भी ठीक नहीं हो पाते, मेरू दण्ड को संतुलित करने की इस सरल विधि से 5–7 दिनों में प्रायः स्वस्थ हो जाते हैं।

मेरू दण्ड के घुमावदार व्यायाम

मनुष्य को छोड़कर सभी प्राणियों की रीढ़ हड्डी क्षितिज के समानान्तर होती है। अतः चलने फ़िरने में उनके मणके स्वयं हलचल में आ जाते हैं। परिणाम स्वरूप इसमें सुशुम्ना नाड़ी की सुप्त शक्तियां स्वयं जागृत हो जाती है। यही कारण है कि अन्य जीवों को मनुष्य की अपेक्षा स्नायु सम्बन्धी कष्ट कम होते हैं। यदि मनुष्य भी

रीढ़ के घुमावदार आसनों का नित्य अभ्यास करें तो स्नायु संबंधी रोगों के होने की संभावनाएं बहुत कम हो जाती है।

हम देखते हैं कि घोड़ा दिन भर बोझा खींचता है, जिससे उसकी रीढ़ के मणके आपस मे चिपक जाते हैं। शाम को घोड़ा जमीन पर लेटकर मस्ती से अपने शरीर को दांयें बांयें करता है, जिससे मणकों में आया तनाव और खिंचाव दूर हो जाता है, उसकी सारी थकान दूर हो जाती है। यदि हम भी घोड़े की तरह रीढ़ की हड्डी को सुबह–शाम 'ठोडी दांयें तो घुटना बांयें' और 'घुटना दांये तो ठोडी बांयें' घुमाना प्रारम्भ कर दें तो मेरू दण्ड में आई विकृतियां दूर हो जाती हैं।

रीढ़ के घुमावदार करने के लिये सर्व प्रथम दोनों हाथ कन्धों के बराबर फैलाकर एक दम सीधा जमीन पर लेट जाना चाहिए। इस व्यायाम की विविध स्थितियाँ होती है, जिनमें पैरों की ही स्थितियां अलग अलग ढंग से बदली की जाती है। गर्दन को घुमाने की एक ही तरीका और नियम होता है। जब पैरों को बांयी तरफ घुमाया जाता है तो गर्दन को दाहिनी तरफ मोड़ टोढ़ी को कंधों से स्पर्श किया जाता है। जब पैरों को दाहिनी तरफ घुमाया जाता है। तो, गर्दन को उसी ढंग से बांयीं तरफ घुमाया जाता है।

प्रथम स्थिति में पैरों की दोनों एडियों के बीच पगथली के बराबर दूरी रखी जाती है तथा एक पगथली की अंगुलियों को बारी बारी से दूसरे पैर को ऐडी से स्पर्श किया जाता है तथा गर्दन को उसके विपरीत दिशा में घुमाया जाता है।

दूसरी स्थिति में दोनों पगथलियों को पास–पास में रख अंगुलियों को एक बार बांयीं, फिर दाहिनी तरफ, बारी बारी से जमीन को स्पर्श किया जाता है। तथा साथ ही साथ गर्दन को विपरीत दिशा में घुमाया जाता है।

ठीक इसी प्रकार तीसरी स्थिति में पगथली के ऊपर दूसरी पगथली रख कर, चौथी स्थिति में पैर के अंगूठे और उसे पास वाली अंगुलि के बीच दूसरे पैर की एडी को बारी बारी से रख, पांचवी स्थिति में दोनों घुटनों को पास पास खड़ा कर मिलाते हुये रख बारी बारी से बायें दाहिने जमीन को स्पर्श कराया जाता है। पांचवे आसन को क्वीन एक्सरसाईज (रानि आसन) भी कहते हैं।

इसी प्रकार छट्ठी स्थिति में दोनों घुटनों को कुछ दुरी पर खड़ा रख पैर को बांये दाहिने घुमाते हुये एक घुटने को जमीन तथा दुसरे को पहले पैर की एडी से स्पर्श बारी बारी से कराया जाता है। इस आसान को किंग एक्सरसाईज (राजा आसन) भी कहते हैं।

नाभि आरोग्य का मूलाधार है

नाभि का महत्व

मानव जीवन के विकास, संचालन एवम् नियंत्रण में नाभि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। माता के पेट में गर्भाधान से लेकर जीवन के अंतिम क्षणों तक नाभि केन्द्र सजग, सतर्क एवं क्रियाशील रहता है। मृत्यु के पहले हृदय की धड़कन रूक जाने के पांच छः मिनट बाद तक नाभि में स्पन्दन होता है। यदि कोई अनुभवी व्यक्ति किसी विधि द्वारा नाभि की प्राण ऊर्जा का संपर्क हृदय से पुनः स्थापित कर दे, तो मनुष्य की मृत्यु टल सकती है। परन्तु नाभि में स्पन्दन रूक जाने के बाद मृत्यु को नहीं टाला जा सकता। माता के गर्भ में नवजात बालक का सबसे पहले नाभि केन्द्र ही विकसित होता है। नाभि में हमारी पैतृक ऊर्जा का संचय होता है, जो बीज से वृक्ष की भांति हमारे सम्पूर्ण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गर्भस्थ बालक में नाभि के माध्यम से ही गर्भावस्था में विकास हेतु आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति होती है।

गर्भ के बाहर आते ही सर्वप्रथम माता के शरीर को नाभि से जोड़ने वाली नली का सम्बन्ध विच्छेद करना अति आवश्यक होता है। जिससे नवजात शिशु स्वतन्त्र रूप से श्वास लेकर अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ कर सके। जीवन की प्रथम श्वास बहुत ही महत्वपूर्ण होती है। उस समय सौरमण्डल में गृह नक्षत्रों की जो स्थिति होती है, उसी के आधार पर ही सारा ज्योतिष विज्ञान, उस व्यक्ति का भविष्य बतलाता है। यदि अज्ञानवश जन्म लेते ही नाभि को माता से जोड़ने वाली नली को शीघ्र न काटा जाये अथवा नली काटते ही बच्चा न रोये तो बालक विकलांग हो सकता है।

नाभि केन्द्र खिंसकने के प्रभाव

यदि नाभि अपने स्थान से अन्दर की तरफ हो जाए, उस व्यक्ति का वजन दिन प्रतिदिन घटता चला जाता है और यदि किसी कारण नाभि अपने स्थान से बाहर की तरफ हो जाती है तो शरीर का वजन न चाहते हुए भी अनावश्यक बढ़ने लगता

है। किसी कारण नाभि यदि अपने स्थान से ऊपर की तरफ चढ़ जाती है तो खट्टी डकारें, अपच आदि की शिकायतें रहने लगती हैं। कब्जियत हो सकती है। परन्तु यदि नाभि अपने स्थान से नीचे की तरफ चली जाती है तो दास्तों की शिकायत हो जाती हे। इसी प्रकार नाभि कभी दांयें, बांयें अथवा तिरछी दिशाओं में भी हट जाती है, जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोग होने लगते हैं। सारे परीक्षण एवं पेथोलोजिक टेस्ट करने के पश्चात् भी रोग पकड़ में नहीं आता। ऐसे में नाभि केन्द्र को अपने केन्द्र में लाने से तुरन्त राहत मिलने लग जाती है।

नाभि असंतुलन के कारण

गलत ढंग से श्वसन क्रिया करने, योगासन न करने अथवा गलत ढंग से करने अथवा शरीर का संतुलन बिगाड़ने वाली अन्य प्रवृत्तियों के कारण भी नाभि अपने केन्द्र से हट जाती है। स्कूटर में कीक मारने अथवा गलत तरीके से वजन उठाने पर नाभि प्रायः ऊपर की तरफ, झुककर अधिक देर बैठने से अन्दर की तरफ जा सकती है।

तनाव का नाभि पर प्रभाव

गलत खान–पान एवं जीवनचर्या के साथ प्रतिदिन की चिन्तायें, दुःख, तनाव, आवेग, क्रोध, द्वेष, घृणा आदि प्रवृत्तियां विभिन्न मानसिक जहरों के माध्यम से शरीर पर अपना प्रभाव निरन्तर छोड़ती रहती हैं। इससे नाभि क्षेत्र में विजातीय तत्त्वों का जमाव होने लगता है। यदि इन दुष्प्रवृत्तियों के दुष्प्रभाव का चिन्तन किया जावे तथा समभाव पूर्ण जीवन जीया जावे तो भविष्य में इन दोषों के दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है। इसी कारण जैन साधुओं के लिए प्रतिदिन प्रातः एवं सांयकाल अपने दोषों का परिमार्जन करने के लिए प्रतिक्रमण को आवश्यक बतलाया गया हैं। परन्तु कभी–कभी महीनों अथवा सालों के बीत जाने के बाद भी यदि हम घृणा, द्वेष, क्रोध से उत्पन्न उन विजातीय तत्त्वों को प्रायश्चित एवं सकारात्मक सोच द्वारा दूर करने का प्रयत्न नहीं करते, जिससे विजातीय तत्वों का जमाव नाभि क्षेत्र में बढ़ने लगता है। नाभि के आसपास जो नाड़ियां (रक्त की सिरायें) एक–दूसरे से अलग–अलग फैली हुई हैं, आपस में चिपक जाती हैं। उलझ जाती हैं अथवा गुच्छों का रूप ले लेती हैं। फलतः नाभि क्षेत्र से पूरे शरीर को प्रवाहित होने वाली प्राण ऊर्जा के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होने लगता है। शरीर के संतुलन का मुख्य आधार नाभि केन्द्र होता है। नाभि केन्द्र में स्थित मणिपुर चक्र सर्वाधिक ब्रह्माण्ड से ऊर्जा ग्रहण करता है और बाकी भी शरीर जो प्राण ऊर्जा ग्रहण करता है वह सर्व प्रथम मणिपुर चक्र (नाभि केन्द्र) में होकर अन्य ऊर्जा चक्रों में प्रवाहित होती है। गर्भकाल में सारा पोषण नाभि के माध्यम से ही मिलता है। अतः यदि नाभि की ६

ाड़कन अपने केन्द्र में न हो तो शरीर असंतुलित होने लगता है।

नाभि निरीक्षण की विधि

नाभि अपने स्थान पर है अथवा नहीं, पता लगाने की अनेकों विधियां होती हैं परन्तु यहाँ एक ही प्रमुख विधि का तरीका बताया जा रहा है जिस व्यक्ति की नाभि चेक करनी हो उस व्यक्ति को जमीन पर पीठ के बल सुला दीजिये। फिर अपने बांयें अथवा दाहिने हथेली की पांचों अंगुलियों को एक साथ मिलाकर ठीक नाभि पर दबाव देते हुये रखिये। यदि नाभि अपने स्थान पर होगी तो पांचों अंगुलियों के बीच में आपको स्पन्दन का आभास होगा। यदि नाभि थोड़ी हटी हुई हो तो नाभि का स्पन्दन पांचों अंगुलियों में किसी अंगुली से दबाव देते हुए, उस स्थान को मालूम करें, जहां स्पन्दन आ रहा हो। जहां पर स्पन्दन आता है, नाभि चक्र उसी स्थान पर होता है। परन्तु जिन लोगों का पेट मोटा अथवा कठोर होता है, उन लोगों के नाभि चक्र का स्पन्दन आसानी से पता नहीं चलता तथा ढूंढने वाले को नाभि क्षेत्र में पर्याप्त दबाव डांलकर ढूंढना पड़ता है।

नाभि केन्द्र ठीक करने की विधियां

नाभि केन्द्र को अपने स्थान पर लाने के लिये भारत में अनेकों विधियाँ प्रचलित है। वे इतनी सरल हैं कि कोई भी जिज्ञासु, शिक्षित, अशिक्षित, बच्चा, बुढ़ा, आसानी से उन विधियों को सीख सकता है। नाभि के केन्द्र में स्पन्दन का अनुभव होने पर वह अपने स्थान पर कही जाती है। परन्तु यदि स्पन्दन केन्द्र में न हो तो, बोलचाल की भाषा में हम इसे नाभि का खिसकना कहते हैं।

1. प्रातःकाल खाली पेट रोगी को सीधा सुलाएँ। नाभि के आसपास बाल हों तो उन्हें साफ कर लें, अथवा पानी से गिला कर लें। उसके पश्चात रोगी को पांच सात बार गहरी एवं लम्बी श्वास लेने को कहें। उसके पश्चात नाभि के केन्द्र पर जला हुआ दीपक रख उसको कांच की ग्लास से ढ़क दें तथा पेट पर ग्लास को हल्का सा दबाव देकर रखें। थोड़ी देरे बाद ग्लास के अन्दर की आक्सीजन समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जायेगा तथा ग्लास पेट के चिपक जायेगी, तथा उसके अन्दर की वायु नाभि के स्पन्दन को अपनी जगर पर लाने के लिये खिंचाव करेगी। जब नाभि का स्पन्दन अपने केन्द्र में आ जायेगा तो ग्लास अपने आप पेट से हट जायेगी। जितनी देर से ग्लास हटती है, उतने ही अनुपात में नाभि क्षेत्र में प्राण ऊर्जा के प्रवाह में अवरोध होता है। रोग ज्यादा अथवा कम, पुराना अथवा तत्कालीन होता है। अगर नाभि का स्पन्दन अपने केन्द्र में होता है तो ग्लास दीपक बुझने के पश्चात या तो पेट से चिपकेगी भी नहीं अथवा तुरन्त हट जायेगी। ग्लास हटने के पश्चात पुनः नाभि का स्पन्दन उसके केन्द्र में जांच कर लें। ग्लास हटने के पश्चात् उसी स्थान पर रोगी को बैठा कर कुछ सात्विक ठोस पोष्टिक भोजन

कराना चाहिये, ताकि पेट में भोजन के दबाव से नाभि का स्पन्दन अपने स्थान पर ही केन्द्रित रहे। आजकल दीपक के स्थान पर पंप, आर्गन डेवलेपर अथवा स्तन पम्प का उपयोग भी किया जाता है। विशेषकर उन रोगियों के लिये जिनके तोंद ज्यादा हो अथवा नाभि का स्पन्दन बहुत गहरा अथवा केन्द्र से बहुत दूर हो। पम्प द्वारा खिंचाव उतना ही देना चाहिये जितना रोगी सहन कर सके।

2. सुबह खाली पेट कमर सीधी करके सीधे लेट जायें। सर्व प्रथम 25–30 बार सीधी एवं उल्टी साइकलिंग का व्यायाम करें। फिर रीढ़ के घुमावदार राजा और रानि आसन 25–30 बार करें। दोनों पैरों को धीरे धीरे ऊपर उठायें तथा 90 डिग्री के कोण पर रखें। फिर सिर को बिना जमीन से उठाएं दोनों पैरों को सीधे रखते हुये धीरे धीरे जमीन पर लाएं। ऐसा उत्तानपादासन पांच छः बार करें। ऐसा करने से खिसकी हुई धरण अपने स्थान पर आ जाती है।

3. सुबह बिना कुछ खाये पीठ बल सीधे लेट जायें। दोनों टखनों तथा घुटनों को साथ साथ रखें। यदि धरण अपने स्थान पर नहीं होती है तो एक पैर का अंगूठा दूसरे पैर के अंगूठे से कुछ बड़ा लगेगा, अर्थात् दोनों अंगूठे बराबर नही होंगे। जो अंगूठा नीचे हों उसे हाथ से ऊपर की ओर खीचें। दो तीन बार खींचने से दोनों अँगूठे बराबर हो जायेंगे और धरण अपने स्थान पर आ जायेगी। यदि छोटे पैर को खिंचना किसी कारण संभव न हो तो पैरों को संतुलन करने की विधि से दोनां पैरों को बराबर करने से नाभि अपने केन्द्र में आ जाती है।

गमियों के दिनों में नाभि पर बर्फ का टुकड़ा रखने से नाभि क्षेत्र में संकोचन होने लगता है और हटी नाभि अपने स्थान पर आ जाती है।

स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को प्रतिदिन नाभि केन्द्र की स्थिति का परीक्षण कर लेना चाहिये। यदि नाभि केन्द्र अपने स्थान से विचलित हो गया हो तो प्रमाद छोड़ उसको केन्द्र में लाने का प्रयास करना चाहिये। जो व्यक्ति अपने नाभि केन्द्र के बारे में पूर्ण सजग रहते हैं, उन्हें जीवन में कोई असाध्य रोग नहीं होता।

शरीर की मूलभूत आवश्यकताएँ

शरीर को पोषण करने वाले तत्त्वों का सम्यक् आवश्यक

जिस प्रकार अच्छे से अच्छा बीज होते हुए भी अच्छी फसल प्राप्त करने के लिये उसे उचित समय पर बोने के साथ साथ उपजाऊ मिट्टी, हवा, पानी, भोजन, धूप के उचित सेवन की आवश्यकता होती है। उनकी उपेक्षा करने से हम स्वस्थ रहना चाहते हुए तथा उसके लिये निरन्तर प्रयास करने के बावजूद भी अपने आपको पूर्ण स्वस्थ नहीं रख सकते।

स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को स्वास्थ्य के साधारण नियमों का ईमानदारी पूर्वक पालन करना चाहिए? उन्हें चिन्तन करना चाहिए कि भोजन, पानी, हवा, धूप, व्यायाम और आराम कब करें? क्यों करें? कहां करें? कितना करें? कैसे करें? जीवन के लिये अति आवश्यक इन क्रियाओं को निरन्तर करने के बावजूद इनका पूरा लाभ क्यों नहीं मिलता?

श्वसन क्रिया

श्वसन इतनी स्वाभाविक और सहज क्रिया है कि हमारी असजगता में भी स्वतः चालू रहती है। चाहे हम निद्रा में हों अथवा जागृत अवस्था में हमारी श्वसन क्रिया अविराम गति से निरन्तर चलती रहती है।

दो श्वासों के बीच का समय ही जीवन है। प्रत्येक व्यक्ति के श्वासों की संख्या निश्चित होती हैं। जो व्यक्ति आधा श्वास लेता है वह आधा जीवन ही जीता है। जो सही ढंग से गहरा और पूरा श्वास लेता है, वही पूर्ण जीवन जीता है। अतः जो व्यक्ति जितनी धीमी और दीर्घ श्वास लेता है, उसकी आयु उतनी ही ज्यादा होती है। जितनी तेज अधूरी और जल्दी–जल्दी श्वास लेते हैं, उतनी ही आयुष्य कम होती है। अधूरी श्वास लेने वालों के फेंफड़ें का बहुत सा भाग निष्क्रिय पड़ा रहता

है। जिन मकानों की सफाई नहीं होती, उसमें गन्दगी जमा होने लगती है। ठीक उसी प्रकार, फेंफड़ों के जिन वायु कोषों में श्वास नहीं पहुँचती वहां फेफड़ों को क्षति पहुँचाने वाले विजातीय तत्त्व जमा होने लगते हैं और धीरे–धीरे बढ़ते–बढ़ते वे इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि, उनको वहाँ से दूर हटाना आसान नहीं होता। परिणाम स्वरूप श्वसन संबन्धी रोगों से शरीर पीड़ित हो जाता है। अतः श्वसन क्रिया में फेंफड़ों का जितना ज्यादा प्रसारण और संकुचन होता है, श्वसन उतना ही उपयोगी एवं प्रभावशाली होता है। अधिक जीवन शक्ति और शांति का अनुभव होता है। चिन्तन का ढंग बदल जाता है।

प्राणायाम

सम्यक् प्रकार से श्वसन क्रिया को संचालित, नियन्त्रित करने की विधि को प्राणायाम कहते हैं। शरीर का भारीपन एवं मन और मस्तिष्क के तनाव से श्वसन क्रिया भी प्रभावित हो जाती है। प्राणायाम से शरीर में प्राण ऊर्जा उत्प्रेरित, संचारित, नियमित और संतुलित होती है। जिस प्रकार बाह्य शरीर की शुद्धि के लिए स्नान की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शरीर के आन्तरिक अवयवों के लिये प्राणायाम का बहुत महत्त्व होता है।

आयुर्वेद में वायु का महत्त्व

आयुर्वेद के अनुसार कफ, पित्त और वायु का असंतुलन रोग का कारण होता है। शरीर में कफ और पित्त की स्थिति तो अपंग जैसी ही होती है। सारा हलन–चलन, संचालन, वायु के माध्यम से ही होता है। जब हम पूरा, गहरा, धीरे–धीरे श्वास लेते हैं तो शरीर के ज्यादा से ज्यादा अवयवों को प्राण ऊर्जा पहुँचती है। जिससे जो कोशिकाएँ मृत प्रायः हो गई हैं पुनर्जीवित होने लगती है। तीव्र श्वास का सम्बन्ध भय, चिन्ता, तनाव आदि आवेगों से होता है, जबकि मंद गति से गहरी श्वास लेने वाला व्यक्ति अपेक्षाकृत शांत, तनाव मुक्त और प्रसन्न रहता है। गहरी श्वास से डायाफ्राम सहित पेट के समस्त अंगों की अच्छी मसाज हो जाती है। गहरी श्वास लेने से मृत कोशिकाओं को पनुर्जीवित करने हेतु ज्यादा प्राण वायु मिलती है। जल्दी–जल्दी श्वास क्रिया करने से शुद्ध वायु ऑक्सीजन अपना पूरा कार्य किए बिना ही पुनः बाहर निकल जाती है, जिससे शरीर में उसका पूर्ण उपयोग आवश्यकतानुसार नहीं हो पाता।

जिस स्थान पर ऑक्सीजन का अभाव होता है, उस वातावरण में रोग होने की संभावना अधिक रहती है। जितना कम प्रदूषण उतनी वायु मंडल में ऑक्सीजन की मात्रा अधिक रहती है। पेड़ पौधे ऑक्सीजन के अच्छे स्रोत होते हैं। अतः प्रातःकाल स्वच्छ वातावरण में भ्रमण करने वालों को सहज रूप से प्राण वायु मिल जाती है।

योग शास्त्र में प्राणायाम के विविध प्रकारों का वर्णन मिलता है। अतः जिज्ञासु स्वास्थ्य प्रेमियों को अनुभवी योग प्रशिक्षकों के सान्निध्य में प्राणायाम की विविध पद्धतियों का अवश्य अध्ययन एवं अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम के समान स्वास्थ्य सुरक्षा की सहज, सरल, स्वावलम्बी, अन्य विधि प्रायः संभव नहीं होती।

श्वास के प्रति सजगता का विकास

मैं श्वास ले रहा हूँ और छोड़ रहा हूँ, इसका स्पष्ट बोध होना ही श्वास के प्रति सजगता है। श्वास के प्रति सजग होने से हम अपनी चेतना के प्रति सजग होते हैं अर्थात् हम स्वयं के प्रति सजग होते हैं। सजगता जीवन की सफलता की प्राथमिक आवश्यकता है। व्यक्ति अपना भला बुरा समझने लगता है। पुरुषार्थ सम्यक् और प्राथमिकताओं के अनुरूप होने से व्यक्ति की कार्य क्षमता बढ़ जाती है। प्रमाद कम होने लगता है। शरीर और मन का भारीपन कम होने लगता हैं।

श्वास लेते समय पेट पूरा फूलना चाहिए और श्वास बाहर निकालते समय पेट जितना अन्दर जा सके जाना चाहिए, तभी सम्पूर्ण स्नायु संस्थान में प्राण वायु का प्रवाह संभव होता है अन्यथा नहीं। यदि श्वास उल्टी चलती है तो, शवासन में लेट कर मानसिक चिन्तन के द्वारा श्वास को लेते समय पेट को बाहर करें और निकालते समय सिकोड़ें। जब भी ध्यान में आये सही श्वास – प्रश्वास की आदत डालनी चाहिए। स्वच्छ एवं खुली हवा में अधिकाधिक रहना, घूमना और सोना चाहिए। प्रदूषित वातावरण से अपने आपको संभव बचाना चाहिए। यही श्वास के प्रति हमारी सजगता होती है।

श्वास नाक से ही क्यों लें?

नासिका शरीर का वह अंग है जिसका कार्य श्वास द्वारा ली जाने वाली वायु का फेंफड़े में पहुंचने के पूर्व पर्याप्त शुद्धि परिमार्जन व शरीर के तापक्रम के अनुरूप बनाना है। ताकि बाह्य वातावरण की गर्म अथवा सर्द हवा फेंफड़ों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सके। सामान्यतः जो वायु श्वास के रूप में लेते हैं, वह ठण्डी या गर्म, गंदी और रोगाणुओं से परिपूर्ण हो सकती हैं? उसमें सूक्ष्म धूलकण हो सकते हैं। नथूनों में उपस्थित रोम (बाल) जो एक प्रकार की छलनी का कार्य करती हैं। श्वास नली उन धूल कणों और रोगाणुओं को अन्दर जाने से रोक देती हैं। ये रोम अन्दर की तरफ प्रवाहित वायु की दिशा के विपरीत कंपन करते हैं। अतः वायु के साथ होने वाले दूषित पदार्थ अन्दर नहीं जा पाते।

दूसरी बात नाक में स्थित श्लेष्मा झिल्लियाँ (म्यूकस मेम्ब्रेन) होती है। जिससे एक प्रकार का वायु में उपस्थित तरल पदार्थ निकलता है, जो वायु में उपस्थित उन असंख्य रोगाणुओं को भी हटा देता है, जो फेंफड़ों के लिए अति घातक सिद्ध हो सकते हैं। साथ ही धूल कणों से भी बचाव करती है, जिनका किसी

कारणवश नासिका के रोम में रुकावट नहीं हो पाती। ये झिल्लियाँ श्वास की वायु को आवश्यक शुष्कता–आद्रता भी प्रदान करती है।

तीसरी बात नाक से ही गंध और सुगन्ध की अनुभूति होती है। गंध की अनुभूति हानिकारक वायु के अन्दर जाने से रोकती है। जैसे ही हमें किसी दुर्गन्ध की अनुभूति होती है–हम तुरन्त श्वास लेना बन्द कर देते हैं और जल्दी से जल्दी वहाँ से दूर होकर ताजी हवा वाले स्थानों में पहुँचने का प्रयास करते हैं।

इसके विपरीत मुँह में न तो बाल होते है और न श्लेषमा झिल्लियाँ। जो वायु का परिमार्जन अथवा शुद्धि कर सकें। दूसरा मुँह का छिद्र नाक की अपेक्षा इतना बड़ा होता है कि उसमें वायु बिना रुकावट फेफड़ों तक पहुँच सकती है। तीसरी नाक के माध्यम से फेफड़ों तक श्वास नली लम्बाई मुंह से फेफड़ों की दूरी से ज्यादा होती है। परिणाम स्वरूप नाक से फेफड़े तक पहुंचते हुये वायु का तापमान शरीर के अनुकूल हो जाता है। परन्तु मुँह से श्वास लेने पर ऐसा कम संभव होता है। अतः जो व्यक्ति मुँह से श्वास लेते हैं, विशेष कर रात में, सवेरे उनका मुँह सूखा हुआ और बदबूदार होता है, जिससे विभिन्न रोगों के होने की संभावना बनी रहती है।

नेति क्रिया

श्वास संबंधी रोगों के उपचार हेतु नेति क्रिया सर्वोत्तम विश्वसनीय सहज पद्धति है। नासिका के छिद्रों की तरल पदार्थों से सफाई करने की विधि को नेति क्रिया कहते हैं। नेति करने से विभिन्न अंगों से आकर नासिका में समाप्त होने वाले स्नायुओं के छोर सक्रिय होते हैं। जिससे मस्तिष्क एवं उन स्नायुओं से जुड़े तंत्रों को लाभ पहुँचता है, जिनकी असक्रियता एलर्जी का प्रमुख कारण होती है। अतः जिन व्यक्तियों को किसी भी प्रकार की एलर्जी होती है, उनके लिये नेति क्रिया अत्यन्त लाभकारी होती है। नेति क्रिया से आज्ञा चक्र भी सक्रिय होता है।

नेति के लिए जल शुद्ध और गुनगुना होना चाहिए। उसमें थोड़ा सा नमक मिला देना चाहिये। नमकीन जल साधारण जल की अपेक्षा नाक की नाजुक रक्त नलिकाओं और श्लेष्मा झिल्लियों द्वारा सरलतापूर्वक शोषित नहीं किया जा सकता। जबकि साधारण जल सरलता से शोषित किया जा सकता है। यद्यपि साधारण जल से किसी प्रकार की हानि नहीं होती, फिर भी नाक में पीड़ा और बैचेनी का अनुभव हो सकता है। नेति क्रिया के लिये विशेष प्रकार का नेति का बर्तन मिलता है। नेति लोटे को नमकीन पानी से भर कर किसी एक नथूने से पानी डालें और दूसरे छिद्र को मस्तिष्क को घूमाकर ऐसा रखें कि वह पान दूसरे छिद्र से बाहर निकल जाये। फिर यही क्रिया दूसरे नथूने से भी करें। उसके पश्चात् बारी–बारी से एक–एक नथूने को बन्द कर दूसरे नथूने से जल्दी जल्दी और दबाव के साथ श्वास निकाले। जिससे नासिका मार्ग की सफाई हो जाती है। पानी की अपेक्षा स्वमूत्र से नेति करना

बहुत अधिक प्रभावशाली होता है।

प्रातःकाल और सोने से पूर्व नेति क्रिया करने से न केवल नथूनों की सफाई होती है, परन्तु उसके साथ–साथ निद्रा अच्छी आती है। आंखों की ज्योति सुधरती है। सिर की गर्मी शान्त होती है। स्मरण शक्ति बढ़ने लगती है। बाल झड़ना बन्द हो जाता हैं और लम्बे समय तक बाल काले बने रहते हैं, ऐसे प्रत्यक्ष परोक्ष अनेक लाभ होते हैं।

जल नेति करते समय हमेशा मुँह खोलकर ही श्वास–प्रश्वास की क्रिया करनी चाहिए अन्यथा नासिका में जल ऊपर चढ़ सकता है, जिससे चक्कर आने की संभावना रहती है। जल नेति के पश्चात् कपाल भाति व भस्त्रिका प्राणायाम अवश्य करना चाहिये। जिससे नाक पूर्ण रूप से साफ हो जाये और उसमें एक बूँद भी पानी न रहे।

सही निःश्वास का महत्त्व

पूर्ण श्वास लेना जितना आवश्यक है, उतना ही पूरा श्वास निकालना भी आवश्यक है। श्वास के माध्यम से जो ऑक्सीजन के रूप में प्राण वायु हम ग्रहण करते हैं, वह रक्त शुद्ध करने में कार्बनडाई आक्साईड में बदल जाती है। यदि इस दूषित वायु का शरीर के समय पर पूर्ण निष्कासन न हुआ तो शरीर में अनुपयोगी विजातीय तत्त्वों में वृद्धि होने लगती है। जिससे प्राण ऊर्जा के प्रवाह में अवरोध आने के कारण रोग होने की संभावना रहती है। जन साधारण जो प्राणायाम नहीं करते, उन्हें भी प्रातःकाल स्वच्छ एवं शुद्धि वातावरण में कम से कम कुछ समय तो गहरी धीमी पूर्ण सजगता पूर्वक अवश्य श्वसन क्रिया करनी चाहिये। साथ ही प्रातः भूखे पेट ही बिना कुछ खाये कुछ बार गहरी श्वास प्रक्रिया करने के बाद कम से कम एक बार मुंह बंद करके पूरे वेग से नाक से जितनी ज्यादा वायु बाहर फेंक सकें फेंकने का अपनी सामर्थ्य और विवेक अनुसार प्रयास करना चाहिये। ऐसा करने से सारे शरीर में वायु का प्रवाह एक दम तेज हो जाता है और जो विजातीय तत्त्व साधारण रेचक प्रक्रिया से निष्कासित नहीं होते हैं, वें भी बाहर निकल जाते हैं। साथ ही स्वतः पूर्ण वेग से श्वास की पूरक क्रिया होती है, जिससे सारे शरीर में प्राण ऊर्जा का प्रवाह पहुँचने लगता है। इस प्रक्रिया द्वारा शरीर में लम्बे समय से जमा अवरोधा तथा विजातीय तत्त्व अपना स्थान छोड़ने लगते हैं। जो यह प्रक्रिया न कर सकें उन्हें कपाल भाति क्रिया नियमित करनी चाहिये।

शरीर में जल के कार्य

हवा के पश्चात शरीर में दूसरी सबसे बड़ी आवश्यकता पानी की होती है। पानी के बिना जीवन लम्बे समय तक नहीं चल सकता। शरीर में लगभग दो तिहाई भाग पानी का होता है। शरीर के अलग–अलग भागों में पानी की आवश्यकता

अलग–अलग होती है। जब पानी के आवश्यक अनुपात में असंतुलन हो जाता है तो, शारीरिक क्रियाएँ प्रभावित होने लगती हैं, अतः हमें यह जानना और समझना आवश्यक है कि पानी का उपयोग हम कब और कैसे करें? पानी कितना, कैसा और कब पीये? उसका तापमान कितना हो? स्वच्छ शुद्ध, हल्का, छना हुआ शरीर के तापक्रम के अनुकूल पानी जन साधारण के लिए उपयोगी होता है। पानी को जितना धीरे–धीरे घूंट–घूंट पीये उतना अधिक लाभप्रद होता है। इसी कारण हमारे यहाँ लोकोक्ति प्रसिद्ध है – "खाना पीओ और पानी खाओ" अर्थात् धीरे–धीरे पानी पीओ।

हमारे शरीर में जल का प्रमुख कार्य भोजन पचाने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं में शामिल होना तथा शरीर की संरचना का निर्माण करना होता है। जल शरीर के भीतर विद्यमान गंदगी को पसीने एवं मलमूत्र के माध्यम से बाहर निकालने, शरीर के तापक्रम को नियंत्रित करने तथा शारीरिक शुद्धि के लिए बहुत उपयोगी तथा लाभकारी होता है। शरीर में जल की कमी से कब्ज, थकान, ग्रीष्म ऋतु में लू आदि की अधिक संभावना रहती हैं। जल के कारण ही हमें, छः प्रकार के रसों–मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, तीखा और कषैला आदि का अलग अलग स्वाद अनुभव होता है।

भोजन के तुरन्त बाद पानी पीना हानिकारक

भोजन के तुरन्त पहले पानी पीने से भूख शान्त हो जाती है। बिना भूखा भोजन का पाचन बराबर नहीं होता। खाना खाने के पश्चात् आमाशय में लीवर, पित्ताशय, पेन्क्रियाज आदि के श्राव और अम्ल मिलने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अतः प्रायः जनसाधारण को पानी पीने की इच्छा होती है। परन्तु पानी पीने से पाचक रस पतले हो जाते हैं, जिसके कारण आमाशय में भोजन का पूर्ण पाचन नहीं हो पाता। फलतः भोजन से जो ऊर्जा मिलनी चाहिए, प्रायः नहीं मिलती। आहार के रूप में ग्रहण किये गये जिन पौष्टिक तत्त्वों से रक्त वीर्य आदि अवयवों का निर्माण होना चाहिये नहीं हो पाता। अपाच्य भोजन, आमाशय और आंतों में ही पड़ा रहता है, जिससे मंदाग्नि, कबजियता, गैस आदि विभिन्न पाचन संबंधी रोगों की संभावना रहती है। दूसरी तरफ अपाच्य भोजन को मल द्वारा निष्काषित करने के लिये शरीर को व्यर्थ में अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अतः भोजन के पश्चात् जितनी ज्यादा देर से पानी पीयेंगे उतना पाचन अच्छा होता है। भोजन के दो घंटे पश्चात जितनी आवश्यकता हो खूब पानी पीना चाहिए, जिससे शरीर में पानी की कमी न हो।

प्रारम्भ में जब तक अभ्यास न हो, ठोस भोजन के साथ तरल पदार्थों का भी उपयोग अवश्य करना चाहिये। भोजन के बीच में थोड़ा सा पानी पी सकते हैं, परन्तु वह पानी गुनगुना हो न कि बहुत ठण्डा पेय। खाने के पश्चात् भी आवश्यक हो तो जितना ज्यादा गरम पीने योग्य पानी थोड़ा पी सकते हैं। भोजन पाचन के पश्चात् पानी पीना पथ्य होता हैं। भोजन पाचन से पूर्व एक साथ ज्यादा पानी पीने

से आंव की वृद्धि होती है। अपच और कब्ज होता है। जैन साधु और बहुत से श्रावक रात्रि में पानी नहीं पीते। परिणाम स्वरूप सायंकालीन भोजन के तुरन्त पश्चात् उनको पर्याप्त पानी पीना पड़ता है, जिससे उनके पाचन संबंधी रोग होने की संभावना अधिक रहती है। अतः स्वास्थ्य प्रेमी साधकों को सायंकालीन भोजन यथा संभव त्यागना ही उपयुक्त होता है। परन्तु यदि ऐसा संभव न हो और भोजन के पश्चात् पानी पीना आवश्यक हो तो, जितना गर्म पानी पी सकते हैं, उतना गर्म पानी धीरे–धीरे घूंट घूंट पीना चाहिए, जिससे आमाशय की गर्मी कम न हो। साथ ही धीरे धीरे पानी पीने से, पानी के साथ थूक मिल जाने से वह पानी पाचक बन जाता हैं।

उषापान

प्रातःकाल निद्रा से उठने के पश्चात् मुंह धोये अथवा दांतुन या कुल्ला करें तथा रात भर ताम्र पात्र में रखा हुआ अपनी क्षमतानुसार एक लीटर से ढेड़ लीटर के लगभग जल पीना चाहिये। इस क्रिया को उषा पान कहते हैं। रात भर में निःश्वास के साथ जीभ पर विजातीय तत्व जमा हो जाते हैं। इसी कारण दिन भर कार्य करने के बावजूद मुंह में जितनी बदबू नहीं आती, उतनी निद्रा में बिना कुछ खाये ही आती है। ये विजातीय तत्त्व जब पानी के साथ खाली पेट में पुनः जाते हैं तब औषधि का कार्य करते हैं। अतः उषापान का पूर्ण लाभ बिना दांतुन पानी पीने से ही मिलता है। उसके पश्चात् टहलने अथवा पेट का हलन–चलन वाला व्यायाम (संकुचन और फैलाना) करने से पेट में आंतें एक दम साफ हो जाती हैं। जिससे पाचन संबंधी सभी प्रकार के रोगों में शीघ्र राहत मिलती है। पानी पीने का श्रेष्ठतम समय प्रातःकाल भूखे पेट होता है। रात्रि के विश्राम काल में चयापचय क्रिया द्वारा जो विजातीय अनावश्यक तत्त्व शरीर में रात भर में जमा हो जाते हैं, उनका निष्कासन गुर्दे, आंतें, त्वचा अथवा फेफड़ों द्वारा होता है। अतः उषापान से ये अंग, सक्रिय होकर समस्त विजातीय पदार्थों को बाहर निकालने में सक्रिय हो जाता हैं। जब तक रात भर में एकत्रित विष भली भांति निष्कासित नहीं होता और ऊपर से आहार किया जाये तो विभिन्न प्रकार के रोग होने की संभावना रहती है, उषापान से बवासीर, सूजन, संग्रहणी, ज्वर, उदर रोग, कब्ज, आंत्ररोग, मोटापा, गुर्दे संबंधी रोग; यकृत रोग, नासिका आदि से रक्त स्राव, कमर दर्द, आंख, कान आदि विभिन्न अंगों के रोगों से मुक्ति मिलती है। नेत्र ज्योति में वृद्धि, बुद्धि निर्मल तथा सिर के बाल जल्दी सफेद नहीं होते अर्थात् अनेक रोगों में लाभ होता है।

उषापान स्वस्थ एवं रोगी दोनों के लिए समान उपयोगी होता है। प्रारम्भ में यदि एक साथ इतना पानी न पी सकें, तो प्रारम्भ में दो गिलास जल से शुरू करें। धीरे धीरे सवा से डेढ़ लीटर तक मात्रा बढ़ावें। इतना ज्यादा पानी एक साथ पीने पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। सिर्फ प्रथम कुछ दिनों में अधिक पेशाब

आ सकता है। यह प्रयोग सस्ता, सुन्दर, स्वावलम्बी और काफी प्रभावशाली होता है।

गर्म पानी औषधि है

ठण्डे पेय तथा फ्रीज में रखा अथवा बर्फ वाला पानी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। स्वस्थ अवस्था में हमारे शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फॉरनाइट यानि 37 डिग्री सेन्टीग्रेड के लगभग होता है। जिस प्रकार बिजली के उपकरण एयर कंडिशनर, कूलर आदि चलाने से बिजली खर्च होती है। उसी प्रकार ठण्डे पेय पीने अथवा खाने से शरीर को अपना तापक्रम नियन्त्रित रखने के लिये संचित ऊर्जा व्यर्थ में खर्च करनी पड़ती है। अतः पानी यथा संभव शरीर के तापक्रम के आसपास तापक्रम जैसा पीना चाहिये। आजकल सामूहिक भोजों में भोजन के पश्चात आइसक्रीम और ठण्डे पेय पीने का जो प्रचलन है, वह स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक होता है।

गर्मी स्वयं एक प्रकार की ऊर्जा है और शारीरिक गतिविधियों में उसका व्यय होता है। अतः जब कभी हम थकान अथवा कमजोरी का अनुभव करते हैं। तब गरम पीने योग्य पानी पीने से शरीर में स्फूर्ति आती है। जिन व्यक्तियों को लगातार अधिक बोलने का अर्थात् भाषण अथवा प्रवचन देने का कार्य पड़ता है, जब वे थकान अनुभव करें, तब ऐसा पानी पीने से पुनः ऊर्जा का प्रवाह सक्रिय होता है। लम्बी तपस्या करने वालों के लिये ऐसा पानी विशेष उपयोगी होता है, जिससे शक्ति का संचार होता है। गरम पानी सर्दी संबंधी रोगों में क्षीण ऊर्जा को पुनः प्राप्त करने का सरलतम उपाय होता हैं।

साधारणतया रोजाना पानी को उबालकर पीने से उसमें रोगाणुओं और संक्रामक तत्त्वों की संभावना नहीं रहती। अतः ऐसा पानी स्वास्थ्य के लिये आधिक उपयोगी होता है।

खाली पेट गर्म पानी पीने से अम्लपित्त जनित हृदय की जलन और खट्टी डकारें आना दूर हो जाता है। गर्म जल सूखी खांसी की प्रभावशाली औषधि है। सहनीय एक गिलास गर्म जल में थोड़ा सेंधा नमक डालकर पीने से कफ पतला हो जाता है और अंत में खांसी का वेग बहुत कम हो जाता है। खाली पेट दो गिलास गर्म पानी पीने से मूत्र का अवरोध दूर होता है। जिनके मूत्र पीला अथवा लाल हो, मूत्र नली में जलन हो उनको गर्म जलपान करना चाहिए।

पानी कब न पीना चाहिए ?

चिकनाई वाले पदार्थ अथवा मीठा खाने के तुरन्त बाद पानी पीने से खांसी और गले के रोग होने की संभावना रहती है। धूप में चलकर आने पर अथवा व्यायाम के पश्चात् जब तक पसीना पूरा सूख न जाये पानी नहीं पीना चाहिये, अन्यथा तुरन्त जुकाम होने की संभावना रहती है। चिकित्सकों की दृष्टि से शौच के तुरन्त पश्चात्

भी पानी नहीं पीना चाहिये। सोने के लगभग दो घंटे पूर्व तक पानी नहीं पीना चाहिये। विशेषकर ऐसे व्यक्तियों को जिन्हें रात्रि में पेशाब के लिए बार बार उठना पड़ता है। सोते समय पानी पीने से निद्रा में पेशाब की शंका बनी रहने के कारण गहरी निद्रा आने में बाधा पहुंचती है। एक बार निद्रा भंग होने के पश्चात् पुनः निद्रा सरलता से नहीं आती। अतः ऐसे व्यक्तियों को अधिक समय तक सोये रहना पड़ता है। परिणाम स्वरूप प्रातः समय पर जल्दी नहीं उठ पाते।

पानी का उपयोग कैसे करे?

पानी को छानकर ही प्रयोग करना चाहिए। अगर पानी गंदा हो तो, पीने से पहले उसको किसी भी विधि द्वारा फिल्टर करना चाहिए। कठोर पानी पीने योग्य नहीं होता। उबला हुआ पानी स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद होता है।

पानी को घूंट घूंट, धीरे धीरे चन्द्र स्वर में पानी चाहिये और शरीर के तापक्रम पर हो जाने के पश्चात् पानी को निगलना चाहिए।

प्रत्येक भोजन के 1–1/2 से 2 घंटे पहले पर्याप्त मात्रा में जलपान करना उत्तम रहता है। ऐसा करने से पेट के अन्दर अपचित आहार जो सड़ता रहता है, पानी में पूर्णतया घुल जाता हैं। पाचन संस्थान एवं पाचक रस ग्रन्थियां सबल एवम् स्वस्थ बनती हैं। इसी प्रकार भोजन के दो घंटे पश्चात् भी पर्याप्त मात्रा में जितनी आवश्यकता हो पानी पीना चाहिये, जिससे शरीर में जल की कमी न हो। पर्याप्त मात्रा में जल पीने से पित्ताशय व गुर्दे की पथरी तथा जोड़ों की सूजन व दर्द ठीक होते हैं। रक्त में मिश्रित विकार धुलकर बाहर निकल जाते हैं।

1. जल से शरीर के अन्दर की गर्मी एवं गंदगी दूर होती है।
2. खड़े–खड़े पानी पीने से गैस, वात विकार, घुटने तथा अन्य जोड़ों का दर्द, दृष्टि दोष, श्रवण विकार होते हैं।
3. थकावट होने अथवा प्यास लगने पर पानी धीरे–धीरे घूंट–घूंट पीना लाभप्रद होता है।
4. भय, क्रोध, मूर्च्छा, शोक व चोट लग जाने के समय अन्तःश्रावी ग्रन्थियों द्वारा छोड़े गये हानिकारक श्रावों के प्रभाव को कम करने के लिय पानी पीना लाभप्रद होता है।
5. लू तथा गर्मी लग जाने पर ठंडा पानी व सर्दी लग जाने पर गर्म पानी पीना चाहिये, उसमें शरीर को राहत मिलती है। पानी पीकर गर्मी में बाहर निकलने पर लू लगने की संभावना नहीं रहती।
6. उच्च अम्लता में भी आधिक पानी पीना चाहिए, क्योंकि यह पेट तथा पाचन नली की अन्दर की कोमल सतह को जलन से बचाता है।
7. दिन में तीन घंटे के अन्तर पर पानी अवश्य पीना चाहिए, क्योंकि इससे

अन्तःश्रावी ग्रन्थियों का श्राव पर्याप्त मात्रा में निकलता रहता है।

8. उपवास के समय पाचन अंगों को भोजन पचाने का कार्य नहीं करना पड़ता। अतः वे शरीर में जमे विजातीय तत्त्वों को आसानी से निकालना प्रारम्भ कर देते हैं। अधिक पानी पीने से उन तत्वों के निष्कासन में मदद मिलती है।
9. पेट में भारीपन, खट्टी डकारें आना, पेट में जलन तथा अपच आदि का कारण पाचन तंत्र में खराबी होता है। अतः ऐसे समय गरम पानी पीने से पाचन सुधरता है और उपरोक्त रोगों में राहत मिलती है।
10. डायरिया, हैजा व उल्टी, दस्त के समय उबाल कर ठंडा किया हुआ पानी पीना चाहिये, क्योंकि यह पानी कीटाणु रहित हो जाता है तथा दस्त के कारण शरीर में होने वाली पानी की कमी को रोकता है।
11. गले और नाक में गर्म जल की वाष्प के बफारे लेने से जुकाम और गले संबंधी रोगों में आराम मिलता है।
12. पीने वाली अधिकांश दवाईयों में पानी का उपयोग किया जाता हैं
13. अधिकांश ठोस दवाईयां भी चाहे वे एलोपेथिक की टेबलेट अथवा आयुर्वेद या अन्य चिकित्सा पद्धति से संबंधित मुंह में लेने वाली दवाईयों को पानी के माध्यम से सरलता पूर्वक निगला जा सकता हैं।
14. त्रिफला के पानी से आंखे धोने पर आंखों की रोशनी सुधरती है। रात भर दाणा मेथी में भिगोया पानी पीने से पाचन संबंधी रोग ठीक होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में शारीरिक शुद्धि के लिये पानी का अलग अलग ढंग से उपयोग किया जाता है।
15. विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त स्नान ताजा पानी से ही करना चाहिये। ताजा पानी रक्त संचार को बढ़ाता है। जिससे शरीर मे स्फुर्ति और शक्ति बढ़ती है। जबकि गर्म पानी से स्नान करने पर आलसय एवं शिथिलता बढ़ती है।

जल चिकित्सा के अनुभूत प्रयोग

पानी विभिन्न प्रकार की ऊर्जाओं को सरलता से अपने अन्दर समाहित कर लेता है। अतः आजकल विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में पानी में आवश्यक ऊर्जा संचित कर रोगी को देने से उपचार को प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

1. सूर्य किरण और रंग चिकित्सा के अन्तर्गत शरीर में जिस रंग की आवश्यकता होती है, उस रंग की कांच की बोतल या बर्तन में पानी को निश्चित विधि तथा धूप में रखने से पानी में उस रंग के गुण आ जाते हैं। ऐसा पानी पीने से रोगों में राहत मिलती है तथा यदि स्वस्थ व्यक्ति पीये तो रोग होने की संभावना

नही रहती।

2. पानी को आवश्यकतानुसार चुम्बक पर रखने से उसमें चुम्बकीय ऊर्जा संचित होने लगती है। उस पानी का उपयोग चुम्बकीय चिकित्सक विभिन्न रोगों के उपचार में करते हैं।

3. सूर्य किरण एवं चुम्बक की भांति पिरामिड के अन्दर अथवा पिरामिड समूह के ऊपर पानी रखने से उसमें स्वास्थ्यवर्धक गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका सेवन करने से रोगों में राहत मिलती है और स्वस्थ व्यक्ति रोग मुक्त रहता है।

4. पानी को रेकी, रत्नों, मंत्रों अथवा आवश्यकतानुसार स्वर तथा विभिन्न रंगों के बिजली के प्रकाश की तरंगों से भी ऊर्जित किया जा सकता है। जिसके सेवन से असाध्य एवं संक्रामक रोगों का उपचार किया जा सकता है।

5. पानी को जैसे बर्तन अथवा धातु के सम्पर्क में रखा जाता है, उसमें उस धातु के गुण उत्पन्न होने लगते हैं। प्रत्येक धातु का स्वास्थ्य की दृष्टि से अपना अलग–अलग प्रभाव होता है।

6. सोने से ऊर्जित जल पीने से श्वसन प्रणाली के रोग, जैसे–दमा, श्वास फूलना, फेंफड़ों संबंधी रोगों, हृदय और मस्तिष्क संबंधी रोगों में लाभ होता है।

7. चांदी से पाचन क्रिया के अवयवों जैसे–आमाशय, लीवर, पित्ताशय, आंतों के अनेक रोगों एवं मूत्र प्रणाली के रोगों में आराम मिलता है।

8. तांबे में ऊर्जित जल के सेवन से जोड़ों के रोग, पोलियों, कुष्ठरोग, रक्त चाप, घुटनों का दर्द, मानसिक तनाव आदि में काफी लाभ होता है।

उपरोक्त तीनों धातुओं से ऊर्जित निश्चित विधि द्वारा तैयार पेय स्त्री–पुरुष, बच्चों–जवान–वृद्धों सबके लिये शक्तिवर्धक होने से लाभदायक होता है।

भोजन और स्वास्थ्य

भोजन हेतु समग्र दृष्टिकोण आवश्यक

हवा और पानी के पश्चात् शरीर को चलाने के लिये तीसरी मुख्य आवश्यकता भोजन की होती है। भोजन की शरीर के सभी अवयवों के निर्माण में अहं भूमिका होती है। शरीर को ताकत मिलती है। अतः भोजन के बारे में काफी शोध हो रही है, परन्तु अधिकांश आहार विशेषज्ञों ने शरीर को ताकतवर, शक्तिशाली बनाने हेतु आवश्यक रासायनिक तत्त्व और ऊर्जा को जैसे–प्रोटीन, विटामिन, कार्बोज, लवण, जल, वसा और केलोरीज की मात्रा को तो अत्यधिक महत्त्व दिया। किसी खाद्य पदार्थ में क्या क्या तत्त्व कितनी मात्रा में होते हैं, उनकी जानकारी से जन साधारण को अवगत कराया। परन्तु भोजन के अवयव कितने सात्त्विक, अहिंसक, शुद्ध और पवित्र होने चाहिये, उस संबंध में अपेक्षित प्राथमिकता नहीं दी। परिणाम स्वरूप पौष्टिकता के नाम पर आज भक्ष्य–अभक्ष्य, खाद्य–अखाद्य, करणीय–अकरणीय, अहिंसा–हिंसा, न्याय–अन्याय, वर्जित–अवर्जित आदिका विवेक मानव खोता जा रहा है।

भोजन कब, क्यों, कितना, कैसा और कहां करना चाहिए और कब क्यों, कैसा और कहां नहीं करना चाहिये? भोजन कहां और कैसे वातावरण और बर्तनों में बनाना चाहिये और खिलाना चाहिए? दो भोजन के बीच में कितने समय का कम से कम अन्तराल होना चाहिये? थोड़ा थोड़ा अथवा बार बार क्यों नहीं खाना चाहिए? प्रकृति के अनुरूप भोजन का सर्वश्रेष्ठ अनुकूल समय कौन सा है? रात्रि भोजन क्यों नहीं करना चाहिए? भोजन करते समय आसपास का वातावरण, हमारी भूख, आसन, विचार, भावना, मानसिकता, चिन्तन कैसा है? भोजन मौसम और शारीरिक अवस्था के अनुकूल है अथवा नहीं? उसमें क्या–क्या और कितने–कितने उपयोगी अथवा अनुपयोगी पदार्थ हैं? जिस उद्देश्य से भोजन किया जा रहा है, उसका कितना प्रतिशत लाभ मिल रहा है? अगर नहीं मिल रहा है, तो क्यों नहीं मिल रहा है?

भारत के नागरिकों का खान–पान, मौसम की विविधता, विभिन्न भौगोलिक, परिस्थितियाँ, पारिवारिक और सामाजिक संरचना में अनेकता तथा रीति–रिवाजों, त्यौहारों, अलग अलग उपासना पद्धतियों का समन्वय होने से एक जैसा संभव नहीं

होता। परन्तु पाश्चात्य संस्कृति में प्रायः इतना बदलाव नहीं होता। हमारी दिनचर्या और जीवन शैली विदेशियों से मेल नहीं खाती। अतः भोजन में उनका अन्धानुकरण स्वास्थ्य के सदैव अनुकूल हो आवश्यक नहीं।

जो भोजन सहज रूप से उपलब्ध होता है, उसे शांत भाव से ग्रंहण करना चाहिये। भोजन में पौष्टिक तत्त्वों एवं केलोरिज की आवश्यक मात्रा, जितनी ऊर्जा नहीं देती, उससे ज्यादा मानसिक तनाव, भय और चिंता के कारण ऊर्जा का अपव्यय होता है, जो घाटे का सौदा होता है। अधिकांश व्यक्तियों को सावधानी रखते हुए भी वही भोजन लेना पड़ता है घर में बनता है। घर में प्रत्येक परिजन के आवश्यकतानुसार प्रायः भोजन नहीं बनता। अतः भोजन करते समय भोजन के अवयवों के बारे में व्यर्थ चिन्तन नहीं करना चाहिये। जिससे व्यर्थ तनाव और चिंता होती है। जो भोजन में उपलब्ध पौष्टिक तत्त्वों की कमी से ज्यादा हानिकारक होती है। अतः उपलब्ध भोजन को शांत भाव से ग्रहण करना अधिक लाभप्रद होता है।

भोजन में प्राथमिकता क्या हो ?

भोजन के संबंध में हमारी प्राथमिकताएँ क्या हो? क्या कभी हमने अपने मनोबल और आत्म बल की क्षमताओं को जानने, समझने तथा अनुभव करने का प्रयास किया? भोजन केवल शरीर को ताकत देता है, अपितु हमारे विचारों, भावनाओं, चिन्तन तथा जीवन शैली को भी प्रभावित करता है। जिस प्रकार बिना कपड़े आभूषण से शरीर को सजाने वालों पर दुनिया हँसती है। यद्यपि आभूषणों का मूल्य तो कपड़ों (पोशक) से ज्यादा ही होता है। ठीक उसी प्रकार पौष्टिकता और स्वाद के नाम पर मन और आत्मा को विकारी और कमजोर बनाने वाला भोजन करना अदूरदर्शितापूर्ण आचरण ही होता है।

भोजन का पूर्ण चयापचय (Metobolism) आवश्यक

भोजन जितना महत्त्वपूर्ण नहीं, उतना उसका सही पाचन जरूरी है। भोजन के पाचन से सर्व प्रथम उसका रस बनता है। उसके पश्चात् रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी और अंत में वीर्य बनता है। वीर्य का निर्माण चयापचय की सम्पूर्ण क्रिया होने पर ही संभव है। जिस भोजन से मात्र रक्त, चर्बी अथवा हड्डियों आदि के अवयव बनते हों। वीर्य नहीं बनता हो, उस भोजन की पाचन क्रिया को पूर्ण एवं संतुलित नहीं कहा जा सकता। साथ ही हमें असंयम पूर्ण जीवन जीते हुए अपने वीर्य का यथा संभव अपव्यय और दुरूपयोग नहीं करना चाहिए। वीर्य का नाश कमजोरी और रोगों का आमन्त्रण है तथा वीर्य की रक्षा स्वस्थ जीवन का राजमार्ग। आप स्वयं चिन्तन करें कि आपकी प्राथमिकता क्या है?

आजकल अधिकांश व्यक्ति प्रायः भोजन शरीर की आवश्यकतानुसार नहीं करते, अपितु मजबूरी और स्वाद की प्राथमिकता के अनुसार करते हैं। भोजन से न केवल स्वाद,अपितु शक्ति भी मिलनी चाहिए। हमें जीने के लिये भोजन करना चाहिये। परन्तु आजकल प्रायः हम भोजन के लिये जीते हैं, ऐसा समझा जावे तो आश्चर्य नहीं। गंदी से गंदी वस्तुओं को खाते समय छान बीन नहीं करते। मात्र उस पर डाली गई सुगन्ध, आकर्षक पेकिंग, मन लुभावने भ्रामक विज्ञापनों से भ्रमित हो स्वाद की लोलुपता के कारण स्वविवेक न होने से ग्रहण करते तनिक भी संकोच नहीं करते। पाचन हो या न हो खाना एक रिवाज बन गया है।

इसी कारण आज दुनिया में 80 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति खाने का विवेक न होने अथवा ज्यादा खाने से बीमार होता है। इसीलिये तो कहा गया है कि "More Dishes More Diseases" अर्थात् "जितना ज्यादा खाना उतने ज्यादा रोग।" हमारे यहां लोकोक्ति प्रसिद्ध है – "एक समय खाने वाला योगी, दो समय खाने वाला भोगी, तीन समय खाने वाला रोगी तथा उससे ज्यादा खाँने वाला महा रोगी" हम स्वयं आत्म निरीक्षण करें कि हम कौन सी श्रेणी में हैं। इसी कारण बाह्य रूप से भले ही अपने आपको स्वस्थ समझें, हमारे शरीर में परोक्ष रूप से सैंकड़ों रोग होते हैं।

बार–बार भोजन करना हानिकारक

हमारे ऋषि मुनियों ने एकासन करने की जो बात कही उसके पीछे यही उद्देश्य था कि मुँह में जब चाहे कुछ न डाला जाये। जो कुछ खाना हो एक या दो बार ही खाय जाये। ताकि हमारे आमाशय को बाकी समय पूर्ण आराम मिल जाये। जब हम कोई भी पदार्थ मुंह में डालते हैं, चाहें उसकी मात्रा बहुत कम ही क्यों न हो, सारी पाचन व्यवस्था को सजग और सक्रिय हो कार्य करना पड़ता है। परिणामस्वरूप जब हमारा मुख्य भोजन होगा तब वे अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं कर पाते। समय पर अच्छी स्वाभाविक भूख नहीं लगती। भोजन समय की नियमितता नहीं रहती। इसी कारण आज अधिकांश व्यक्तियों का पाचन प्रायः ठीक नहीं होता। जितनी कम बार खाया जायेगा, उतनी भूख अच्छी लगेगी और पाचन अच्छा होगा। अतः जो मधुमेह अथवा पाचन संबंधी रोगों से पीड़ित हैं, उन्हें तो बार–बार कभी नहीं खाना चाहिये। परन्तु आज के आहार विशेषज्ञों की सोच इसके विपरीत पायी गई हैं। रोगी को थोड़ा थोड़ा बार–बार खाने के लिये प्रेरित किया जाता है। जिस पर बिना किसी पूर्वाग्रह शोध एवं चिन्तन की आवश्यकता है, ताकि मुधमेह तथा पाचन रोग जैसी असाध्य बीमारी से रोगी को राहत दिलाई जा सके।

भोजन कैसा हो?

आजकल अप्राकृतिक रसायनिक खाद के उपयोग एवं कीटाणुनाशक औषधियों के अधिक प्रयोग के कारण बाजार में उपलब्ध अधिक खाद्यान्न, फल और

सब्जियाँ दूषित हो जाती हैं। वे शरीर का सम्पूर्ण पोषण नहीं कर सकती बल्कि उनके सेवन से शरीर में विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है। हमारे शरीर में अम्ल क्षार का अनुपात 20:80 हैं। अतः भोजन में भी यथा संभव 80 प्रतिशत क्षार तत्त्व और 20 प्रतिशत अम्ल तत्त्व होने चाहिए, जिससे शारीरिक अवयवों का सही निर्माण हो सके।

अतः जिन खाद्य पदार्थो के उत्पादन में रासायनिक खाद, विषैली कीटनाशक दवाओं का उपयोग न किया गया हो, जिसको प्राप्त करने के लिए किसी भी चेतनाशील प्राणी की हत्या न की गई हो अथवा उन पर क्रूरता, अत्याचार और कष्ट नहीं दिये गये हों, जो भोजन अपनी प्राकृतिक अवस्था और स्वरूप में हो या उसकी अवस्था एवं स्वरूप में कम से कम परिवर्तन हुआ हो, ऐसे अपनी आवश्यकता के अनुरूप पौष्टिक पदार्थों से ओतप्रोत सात्त्विक भोजन को ही सर्व श्रेष्ठ भोजन कहा जा सकता है।

हम स्वयं निर्णय करें कि हम कैसा भोजन कर रहे हैं। यदि हम अपने आपको बुद्धिमान समझते हैं, तो भोजन को ग्रहण करने से पूर्व एक क्षण चिन्तन करें क्या भोजन हमारे अनुकूल है? किसी प्राणी के अपवित्र रक्त, मांस और चर्बी की गंदगी तो उसमें नहीं है? किसी बेगुनाह जीव की हत्या से निर्मित उस जीव की बददुआएँ की तरंगें भोजन के माध्यम से पेट मे जाकर हमारे में हिंसा, क्रूरता, निर्दयता और प्रति हिंसा की ज्वाला तो पैदा नहीं करेंगी? अतः भ्रामक विज्ञापनों से प्रभावित हो अखाद्य वस्तु पेट में डालकर अपने पेट को कूड़ा दान न बनायें।

जो भोजन उपर्युक्त तथ्यों के जितना समीप होता है, उसी अनुपात में उसका लाभ अधिक मिल सकता है। क्योंकि भोजन में न केवल पदार्थ का ही महत्त्व होता है, अपितु उसके बनाने के ढंग और बनाने वालों के भावों, शारीरिक स्थिति का भी प्रभाव पड़ता हैं।

भोजन बनाने हेतु सावधानियाँ

दूसरी बात उबालने, मिक्सी में रस निकालने, फ्रिज अथवा कोल्ड स्टोरेज में रखने से खाद्य पदार्थो का प्राकृतिक स्वरूप बदल जाता है और पौष्टिक तत्त्वों में कमी आ जाती है। भोजन बनाते समय भी आजकल स्टील, एलुमिनियम और प्लास्टिक के बर्तनों का प्रयोग अधिक होता है। जिससे भोजन में हानिकारक, रासायनिक पदार्थों के मिश्रित होने की संभावना बढ़ जाती है। ऐसा भोजन शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता घटाता है। एलुमीनियम थोड़ी सी गर्मी पाकर गलने लगता है। और खाद्य पदार्थों के साथ पेट में जब पहुँच जाता है तो, अपाच्य विकार पैदा करता है, जिससे गुर्दे में पथरी और आंतों में खराबी होने की संभावनाएँ बढ़ सकती है। अतः यथा संभव एलुमीनियम के बर्तनों का उपभोग खाना बनाने में नहीं करना

चहिए। परन्तु आजकल प्रायः घरों में कुकर, ओवन आदि एलुमिनियम के ही भोजन बनाने में उपयोग में लिए जाते हैं, जो उचित नहीं है।

इसी कारण हमारे पूर्वज भोजन बनाने में मिट्टी के बर्तनों तथा अपनी क्षमतानुसार चाँदी के बर्तनों का उपयोग खाना खाने में करते थे। इस संबंध में विस्तृत जानकारी धातु चिकित्सा (Metal Therapy) करने वाले अनुभवी विशेषज्ञों से परामर्श कर प्राप्त की जा सकती है।

भोजन बनाने वालों के भावों का महत्त्व

भोजन बनाने वालों के भावों की तरंगे भी हमारे भोजन को प्रभावित करती हैं। माता और पत्नी जिस प्रेम से अपने पुत्र एवं पति को खिलाने हेतु भोजन बनाती है, उसमें बाजार में उपलब्ध पौष्टिक पदार्थों से अधिक ऊर्जा और तृप्ति मिलती है। भोजन जिन भावों से बनाया जायेगा, खाने वाले का मन उसी के अनुरूप बन जायेगा। इसीलिये हमारे यहां लोकोक्ति है— "जैसा अन्न वैसा मन, जैसा मन वैसा चिन्तन। जैसा चिन्तन वैसा विचार। जैसा विचार वैसा स्वभाव। जैसा स्वभाव वैसी वृत्तियाँ और जैसी वृत्तियाँ वैसे संस्कार।"

खाया हुआ भोजन तीन भागों में विभक्त हो जाता है। स्थूल भाग मल बनता है, मध्यम अंश से शरीर के अवयवों का निर्माण होता है। सूक्ष्म अंश से मन की पुष्टि होती है। जिस प्रकार दही के मन्थन से उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर मक्खन बन जाता है, जिसको और तपाया जाये तो घी बन जाता है। ठीक उसी प्रकार अन्न के भावांश से मन बनता है। इसी कारण होटल के खाने से पेट तो भर सकता है – परन्तु मन नहीं। पेट भोजन से भर सकता है, परन्तु मन तो भोजन में होने वाले भावों से ही भरता है। जैन आगमों में निर्दोष आहार प्राप्ति के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन मिलता है। आध्यात्मिक संतों का आहार कैसा हो? उसे कैसे प्राप्त किया जाए? उसको ग्रहण कैसे किया जाए तथा ग्रहण करते समय कैसा चिन्तन हो? साधुओं को आहार लेते समय जिन 42 दोषों की चर्चा की गई है तथा आहार ग्रहण करते समय जिन 47 दोषों से सावधान रहने का निर्देष दिया गया है, निश्चय ही पठनीय, मननीय, चिन्तनीय एवं आचरणीय है। ऐसा आहार ही साधक को शरीर के पोषण के साथ–साथ मन को संयमित, नियन्त्रित एवं पोषण करने वाला होता है। जिज्ञासु पाठक उनका अध्ययन कर अपने आहार को अधिकाधिक सात्विक बनाएं, ऐसा अपेक्षित है। इसी कारण तामसिक भोजन करने वाला तामसिक वृत्तियों वाला होता है। तामसिक व्यक्ति शरीर के लिए जीता है। उसके लिये बाकी सब बातें गौण होती हैं। उसके भोजन का उद्देश्य होता है स्वाद और पेट भरना। परिणाम स्वरूप वह अधिक प्रमादी होता है। राजसिक भोजन से मन और बुद्धि चंचल होती है। राजसिक प्रवृत्ति वाल अत्याधिक महत्वाकांक्षी होते हैं। अतः उन्हें उत्तेजना पैदा

करने वाला भोजन अच्छा लगता है। सात्विक भोजन ही संतुलित होने से सर्वश्रेष्ठ होता है। क्योंकि ऐसा भोजन करने से न तो उत्तेजना आती है, न मादकता, तथा आलस्य और न कमजोरी। परन्तु स्फूर्ति और ताकत प्राप्त होती है।

भोजन में मुख्य रूप से छः स्वाद होते हैं। 1. मीठा 2. खट्टा 3. नमकीन 4. तीखा 5. कड़वा 6. कषैला। अधिकांश व्यक्तियों के भोजन में प्रायः अंतिम दो स्वादों का अभाव होता है। यदि भोजन में इनका समुचित समावेश किया जाये तो मधुर स्वाद का दुष्प्रभाव दूर हो जाता है और पाचन सुधरता है।

प्राकृतिक चिकित्सकों और आहार विशेषज्ञों के दृष्टिकोण से भोजन ही औषधि है। अतः उनकी मान्यता के अनुसार रोगी का उपचार चिकित्सालय की अपेक्षा भोजनालय में होना चाहिये। बड़े बड़े अनुभवी हृदय रोगों के चिकित्सक दवाओं के दुष्प्रभावों के कारण मात्र संतुलित भोजन से हजारों हृदय रोगियों का सफल उपचार करने में सफल हुए हैं। स्वस्थ होने पर भोजन पोषण के लिये और रोग होने पर रोग को दूर करने के लिए भोजन औषधि का कार्य करता है।

भोजन उतना ही करें, जिसका पूर्ण पाचन हो सके। हम प्रायः जितना खाते हैं, उसके दो तिहाही भाग से हम जीवित रहते हैं। तथा एक तिहाही भाग से चिकित्सक। पाचन संस्थान शरीर का वह तंत्र है जो आहार को ग्रहण करने, उसका पाचन करने, पाच्य आहार से शरीर के लिए आवश्यक समस्त पोषक तत्त्वों का अवशोषण करने तथा पाचन एवं अवशोषण के उपरान्त जो अनुपयोगी पदार्थ हैं, उन व्यर्थ पदार्थों का मल के रूप में शरीर से बाहर निकालने का कार्य करता है। उपर्युक्त कार्यो में यदि कहीं भी अपूर्णता रहती है अथवा अवरोध होता है। तो जो भोजन शक्ति वर्धक होना चाहिये, वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो जाता है।

पाचन क्रिया का प्रारम्भ मुँह से होता है। भोजन को खूब चबा–चबा कर धीरे–धीरे खाना चाहिए, ताकि उसमें अधिक से अधिक लार और थूक का मिश्रण हो सके। ऐसा करने से भोजन का अधिकांश पाचन मुंह में ही हो जाता है। अधिक स्वाद मिलता है, और भोजन से तृप्ति होती है। परन्तु आज तेजी का युग है, प्रत्येक व्यक्ति कम समय और कम श्रम में जीवन की समग्र समस्या का सरलतम समाधान चाहता है। परिणाम स्वरूप भोजन के लिये अधिकांश व्यक्तियों को समय ही नहीं होता है। वे मात्र मजबूरी से खाना खाते हैं। शान्त, प्रसन्नचित, एकाग्रता से मौन पूर्वक खाना नहीं खा सकते। भोजन करते समय सारा ध्यान भोजन में होना चाहिए.न कि कुछ देखने, सुनने, पढ़ने अथवा बातचीत करने में। बोलते रहने से मुँह में लार कम बनती है। फलतः मुँह सूखने लग सकता है। जिससे भोजन के बीच में पानी पीना पड़ता है। भोजन के बीच में पानी पीने से पेट की जठराग्नि शान्त हो जाती हैं और आमाशय में भोजन को पेन्क्रियाज, लीवर, गाल ब्लेडर आदि से मिलने वाले पाचक रस पतले हो जाते हैं। जिससे आमाशय में भोजन का पूर्ण क्षमता से पाचन नहीं

हो सकता।

दूसरी बात भोजन को चबा–चबा कर करने से, भोजन में जो शर्करा का अंश होता है, वह प्रचुर मात्रा में थूक में मिलने से मुँह में ही पाचन हो जाता है। और पेन्क्रियाज को उस शर्करा को पचाने के लिये ज्यादा इंसुलिन की आवश्यकता नहीं होती। अतः मधुमेह और पाचन संबंधी अन्य रोगियों के लिये धीरे–धीरे पूरा चबाकर भोजन करना सर्वोत्तत औषधि का कार्य करता है।

प्रकृति के अनुकूल दिनचर्या आवश्यक

सूर्य प्रतिदिन प्रातः काल उदय होकर सायंकाल ही क्यों अस्त होता है। निद्रा का समय प्रायः रात्रि में ही क्यों उपयुक्त होता है? प्रातःकाल ही प्रायः अधिकांश व्यक्ति मल त्याग क्यों करते हैं? भ्रमण एवम् श्वसन सम्बन्धी व्यायामों अथवा प्राणायाम प्रातः ही विशेष लाभप्रद क्यों होता है? जैन धर्म में रात्रि भोजन का क्यों निषेध किया गया है? मौसम के अनुकूल खान पान और सहन में परिवर्तन क्यों आवश्यक है? हमारी दिनचर्या एवं रात्रिचर्या के पीछे क्या दृष्टिकोण है? प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में एक जैविक घड़ी होती है, भूख लगती है, निद्रा खुल जाती है क्या सारी बातों का कोई वैज्ञानिक सोच या आधार है अथवा मात्र हमारी सुविधा या अन्धानुकरण? कोई बीज कितना ही अच्छा क्यों न हो, अच्छी उपजाऊ जमीन पर बोया जावे, उचित हवा, पानी धूप होने के बावजूद उचित समय पर न बोने से नहीं उगता। ठीक उसी प्रकार भोजन पानी, दवा, निद्रा आदिका बराबर ख्याल रखने के बावजूद उचित समय पर सेवन न करने से वे अपेक्षाकृत लाभदायक नहीं होते। अतः हमें दिनचर्या का चयन इस प्रकार करना चाहिये कि शरीर के अंगों की क्षमताओं का अधिकतम उपयोग हो।

क्या शरीर में सभी अंग चौबीसों घण्टे सक्रिय होते हैं?

शरीर के सभी अंगों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह वैसे तो चौबीसों घंटे होता ही है। परन्तु सभी समय अंगों में एकसा नहीं होता। प्रायः प्रत्येक अंग कुछ निश्चित समय के लिये प्रकृति से अधिकतम प्राण ऊर्जा मिलने से अधिक सक्रिय होते हैं तो, कभी प्रकृति से निम्नतम प्राण ऊर्जा मिलने से अधिक सक्रिय होते हैं तो, कभी प्रकृति से निम्नतम प्राण ऊर्जा मिलने से अपेक्षाकृत सबसे कम सक्रिय होते हैं। इसी कारण कोई भी रोगी चौबीसों घंटे एक जैसी स्थिति में नहीं रहता। अंगों में प्राण ऊर्जा के प्रवाह का संतुलन ही स्वास्थ्य का सूचक होता है। यदि कोई रोग किसी अंग की असक्रियता से होता है तो, जिस समय उस अंग को प्रकृति से सर्वाधिक प्राण ऊर्जा का प्रवाह होता है, तब रोगी को अपेक्षाकृत आंशिक राहत का अनुभव होता है, उसके

विपरीत जब रोग अंग की अधिक सक्रियता से होता है तो जब उस अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह निम्नतम होता है, तब रोगी को अधिक राहत का अनुभव होता है।

कभी कभी हम अनुभव करते हैं कि रोगी को निश्चित समय होते ही रोग के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण उस समय संबंधित अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह अधिकतम या निम्नतम होता है।

वैज्ञानिक शोधों का यह निष्कर्ष है कि शरीर में सभी अंगों में एक समान ब्रह्माण्ड से प्राण ऊर्जा का प्रवाह नहीं होता। लगभग प्रत्येक प्रमुख अंगों में दो दो घण्टे सर्वाधिक तो उसके ठीक विपरीत समय अर्थात् 12 घंटे पश्चात् निम्नतम प्राण ऊर्जा का प्रवाह उस अंग में होता है। इसी कारण एक ही लक्षण वाली बिमारियों के अलग–अलग समय में प्रकट होने के कारण अलग–अलग होते हैं। जैसे किसी व्यक्ति को प्रातःकाल सिर दर्द होता है अथवा चक्कर आता है और किसी अन्य रोगी को दोपहर अथवा रात्रि में सिर दर्द अथवा चक्कर आता हो तो दोनों के कारण अलग–अलग होते हैं। रोग का कारण उससे संबंधित अंग में प्राण ऊर्जा का प्रवाह ज्यादा अथवा कम होता है। इस प्रकार संबंधित रोग ग्रस्त अंग का आसनी से सही निदान किया जा सकता हैं।

शरीर के प्रमुख अंगों में प्रकृति से सर्वाधिक एवं निम्नतम ऊर्जा के प्रवाह का समय

अंगों का नाम	अंग में ऊर्जा के सर्वाधिक प्रवाह का समय	प्राण ऊर्जा के निम्नतम प्रवाह का समय
1. फेंफड़े	प्रातः 3 से 5 बजे	दोपहर 3 बजे से 5 बजे
2. बड़ी आंत	प्रातः 5 से 5 बजे	सांयकाल 5 बजे से 7 बजे
3. आमाशय	प्रातः 7 से 9 बजे	सांयकाल 7 बजे से 9 बजे
4. तिल्ली	प्रातः 9 से 11 बजे	रात्रि 9 से 11 बजे
5. हृदय	प्रातः 11 से 1 बजे	रात्रि 11 से 1 बजे
6. छोटी आंत	दोपहर 1 से 3 बजे	रात्रि 1 से 3 बजे
7. मूत्राशय	दोपहर 3 से 5 बजे	रात्रि 3 से 5 बजे
8. गुर्दे	सायंकाल 5 से 7 बजे	प्रातः 5 से 7 बजे
9. पेरीकार्डियन	रात्रि 7 से 9 बजे	प्रातः 7 से 9 बजे
10. त्रिअग्री	रात्रि 9 से 11 बजे	प्रातः 9 से 11 बजे
11. पित्ताशय	रात्रि 11 से 1 बजे	दोपहर 11 से 1 बजे
12. लीवर	रात्रि 1 से 3 बजे	दोपहर 1 से 3 बजे

उपर्युक्त तालिका दिन एवम् रात को 12–12 घंटों तथा सूर्योदय 6 बजे तथा सूर्यास्त सांयकाल 6 बजे का आधार मानकर बनाई गयी हैं। परन्तु यहाँ दिन रात बराबर नहीं होते वहां पर उसके अनुरूप ऊर्जा प्रवाह के समय में आंशिक

परिवर्तन होता है। यद्यपि क्रम तो वही रहता है, फिर भी उस स्थिति में उससे संबंधित आगे पीछे वाला अंग भी प्रभावित हो सकता है। अतः रोग का सही निदान करने के लिये संबंधित अंगों के लक्षणों के प्रभाव का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।

निद्रा कब त्यागें?

प्रातः 3 बजे से प्रातः 5 बजे फेंफड़ों में प्राण ऊर्जा का प्रवाह सर्वाधिक होता है। इसी कारण प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर खुली हवा में घूमने वाले, शुद्ध वायु में प्राणायाम तथा श्वसन का व्यायाम करने वालों के फेंफड़े सशक्त होते हैं। परन्तु दमा के रोगी प्राण ऊर्जा के उस अतिरिक्त प्रवाह को ग्रहण न कर सकने के कारण पिछली रात अधिक परेशान और बेचैन रहते हैं। प्रातःकाल 3 बजे से 5 बजे पीयूष एवं पीनियल ग्रन्थियों से सोमरस निकलता है, जो शरीर की प्रतिकारात्मक शक्ति को बढ़ाता है तथा शरीर के व्यवस्थित विकास हेतु आवश्यक है। इस समय निद्रा लेने पर शारीरिक स्थिरता के कारण सोमरस की धारा गले के नीचे प्रवाहित नहीं हो पाती। इस रस के कारण उस समय मस्तिष्क की स्मरण शक्ति जितनी अच्छी होती है, अन्य समय नहीं होती। ब्रह्म मुहूर्त में उठने वाले छात्र अधिक बुद्धिमान, स्वस्थ, सजग एवं क्रियाशील होते हैं। उनमें आलस्य अपेक्षाकृत कम होता है।

प्रातः 5 बजे से 7 बजे के बीच के समय में फेंफड़ों के सहयोगी अंग बड़ी आंत में ऊर्जा का विशेष प्रवाह होने से यह अंग अधिक क्रियाशील होता है। इसी कारण मलत्याग के लिए यह सर्वोत्तम समय होता है। जो व्यक्ति उस समय मलत्याग नहीं करते हैं, उनके कब्ज रहने का एक कारण यह भी हो सकता है। इसलिये जो देर तक सोये रहते हैं, उनका पेट प्रायः खराब रहता है।

भोजन कब करें

जब हमें स्वाभाविक अच्छी भूख लगे तब ही भोजन करना चाहिए। भूख का संबन्ध हमारी आदत पर निर्भर होता है। जैसी हम आदत डालते हैं, उस समय भूख लगने लग जाती है। अतः हमें भोजन की ऐसी आदत डालनी चाहिए कि जब आमाशय अधि सक्रिय हो, उस समय हमे तेज भूख लगे। दूसरी बात जब तेज भूख लगे तो कुछ खाकर आमाशय की पूर्ण क्षमता का अपव्यय नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा किया गया तो मुख्य भोजन के समय आमाशय भी पाचान के प्रति उदासीन हो जाए तो आश्यर्च नही।

प्रातः 7 बजे से 9 बजे तक आमाशय में प्रकृति से प्राण ऊर्जा का सर्वाधिक प्रवाह होने तथा बड़ी आंत की सफाई हो जाने से इस समय पाचन आसानी से हो जाता है। आजकल उस समय अधिकांश व्यक्ति प्रायः भोजन नहीं करते अपितु नाश्ते का प्रचलन बढ़ गया है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार प्रातः 10 बजे तक का समय शरीर में कफ

प्रकृति का होता है और दिन में 10 से 2 बजे तक का समय पित्त प्रकृति का होता है। अतः हमेशा भोजन कफ प्रकृति में करने के बाद में पित्त प्रकृति का समय होने से पाचन में मदद मिलती है। 10 बजे के पश्चात शरीर की गर्मी बढ़ने के साथ–साथ बाह्य सूर्य की गर्मी भी बढ़ती है। प्रायः उस समय तक सभी निद्रा त्याग देने से शरीर में हलन चलन भी होने लगता है। कफ प्रकृति में भोजन करने से भोजन के तुरन्त प्रश्चात् इतनी ज्यादा प्यास भी नहीं लगती, जिससे खाने के तुरंत पश्चात् पानी पीने से जो पाचन बिगड़ता है उससे हम सहज बच जाते हैं, भोजन के पश्चात् निद्रा भी नहीं आवेगी। भोजन के पश्चात आलस्य, आराम खराब पाचन क्रिया के सूचक होते हैं। प्रातः भोजन करने से कारण पाचन सर्वोत्तम होता है और हम सैकड़ों पाचन संबंधी रोगों से सहज बच जाते हैं।

प्रातः 9 बजे से 11 बजे तक का समय तिल्ली और पेन्क्रियाज का सबसे अधिक सक्रियता का समय होता है, और रात्रि 9 बजे से 11 बजे प्रकृति से इन अंगों को सबसे कम प्राण ऊर्जा मिलती है। ठीक उसी प्रकार सांयकाल 7 बजे से 9 बजे आमाशय में निम्नतम प्राण ऊर्जा का प्रवाह प्रकृति से होता है। अतः प्रातः 9 बजे से 11 बजे शरीर में पेन्क्रियाटिक रस और इन्सुलिन सबसे ज्यादा बनात है। इन्सूलिन का पाचन में विशेष महत्त्व होता है। अतः जो मधुमेह अथवा अन्य किसी प्रकार के पाचन रोगों से ग्रस्त होते हैं, उनके भोजन करने के समय में परिवर्तन आवश्यक होता है। उन्हें जब आमाशय और पेन्क्रियाज सबसे अधिक सक्रिय हो अर्थात् प्रातः 9 बजे के लगभग अवश्य भोजन कर लेना चाहिये तथा सायंकाल 7 बजे से रात्रि 11 बजे के बीच भोजन नहीं करना चाहिये, क्यों कि उस समय प्रकृति से आमाशय और पेन्क्रियाज को निम्नतम प्राण ऊर्जा मिलने से पाचन क्रिया मंद पड़ जाती है।

कीटाणुओं का भोजन पर प्रभाव

सूर्यास्त के प्रश्चात् बहुत से सूक्ष्म जीव पैदा हो जाते हैं। सूर्य का प्रकाश इन कीटाणुओं को पैदा होने से रोकता हैं। सूर्य के ताप में अनेक विषैले कीटाणु निष्क्रिय बन जाते हैं, जो सूर्यास्त के बाद पुनः सक्रिय होने लगते हैं। प्रायः हम अनुभव करते हैं। कि दिन में 1000 वाट के बल्ब के पास भी सूक्ष्म जीव नहीं आते, जबकि रात में थोड़ी सी रोशनी में भी बल्ब के आसपास मच्छर मंडराने लगते हैं। ये जीव आहार की गन्ध के कारण भोज्य पदार्थों तरफ आकर्षित होते हैं। वहीं दूसरी तरफ भोजन में भी अनेक सूक्ष्म बेक्टीरियाँ उत्पन्न हो जाते हैं। इनका रंग भोजन के रंग जैसा ही होने से कृत्रिम प्रकाश में हम इन्हें नहीं देख पाते हैं। कृत्रिम प्रकाश में उजाला तो है, परन्तु वह सूर्य की बराबरी नहीं कर संकता। पूर्ण शाकाहारियों के लिये यह भोजन निश्चित रूप से त्याज्य होता है। रात्रि में तमस (अँधेरे) के कारण

वैसे भी भोजन तामसिक बन जाता है। रात्रि भोजन से स्मरण शक्ति कमजोर होने लगती है। व्यक्ति अपनी क्षमताओं को पूर्ण रूपेण विकसित नहीं कर पाता।

रात्रि भोजन और निद्रा

भोजन और शयन के बीच कम से कम चार घंटे का अन्तर आवश्यक होता है। सोने के समय तक भोजन का पूरा पाचन न हो तो भोजन का वह अंश आमाशय में ही पड़ा रहता है और पाचन संबंधी अनेक रोगों को पैदा करने का कारण बनता है। अंग्रेजी में एक कहावत है– Earlty to Bed Early to rise is the way to be Healthy, Wealthy & Wise अर्थात् जल्दी सोने तथा जल्दी उठने से व्यक्ति स्वस्थ, सम्पन्न, समृद्धिशाली और बुद्धिमान होता है। इस दृष्टि से भी जब व्यक्ति देर से भोजन करेगा तो सोवेगा भी देर से और देर से उठेगा। आज मुधमेह (डाइबीटिज) जैसे अनेक रोगों को पैदा करने में रात्रि – भोजन भी एक मुख्य कारण होता है।

सूर्य के ताप का शरीर पर प्रभाव

मच्छर रात्रि में ही क्यों प्रायः आधिक काटते हैं? क्या कभी हमने चिन्तन किया? सूर्यास्त होने के पश्चात् शरीर की प्रतिरोध शक्ति कम हो जाती है। ऊर्जा शक्ति की हानि होने से रात्रि में किया गया भोजन कैसे शक्तिवर्धक हो सकता है?

सूर्य की रोशनी से शरीर में रोग -- प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है। इसी कारण प्रायः अधिकांश रोगों का प्रकोप रात में बढ़ने लगता है। प्रत्येक बीमारी भी अपेक्षाकृत रात में ज्यादा कष्टदायक होती है। इसका मुख्य कारण रात में सूर्य की गर्मी का अभाव होता है।

जिस प्रकार चूल्हे पर रखी हुई वस्तु को जब अग्नि की गरमी मिलती है तभी वह पकती है, उसी प्रकार हमारे आमाशय में हम जो डालते हैं वह भी पेट की उष्णता (जठराग्नि) के कारण ही पचता है। इसी कारण जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है उसकी पाचन शक्ति अच्छी मानी जाती है। भोजन करते समय उन सब नियमों का पालन करने का प्रयास किया जाना चाहिये, जिनसे जब तक भोजन का पूर्ण पाचन न हो, पाचन शक्ति मन्द न पड़े।

पाचन तंत्र के आराम हेतु उपवास

परिश्रम के पश्चात् शरीर को आराम की आवश्यकता होती है। व्यवसाय जगत में भी सप्ताह में कम से कम एक दिन अवकाश का कानूनी प्रावधान होता है। अवकाश के समय अपूर्ण कार्यों को पूर्ण किया जा सकता है ताकि भविष्य में अधिक उत्साह एवं शक्ति से नियमित कार्यों को किया जा सके।

प्रायः जनसाधारण को जैसे सुपाच्य, पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है, उसके स्थान पर अधिकांश व्यक्ति स्वाद और भूख वश अपाच्य, स्वास्थ्य के लिये अनुपयोगी, हानिकारक पदार्थो का सेवन करने में पूर्णतया विवेक नहीं रखते। फलतः

पाचन तंत्र को उन पदार्थों को पाचन के लिये सदैव क्षमात से अधिक कार्य करना पड़ता है। उनको आराम नहीं मिलता। परिणामस्वरूप उनकी क्षमता क्षीण होने लगती है। पाचन तंत्र में विकार जमा होने लगता है, जिससे रक्त में भी विकार बढ़ जाते हैं।

उपवास में आहार का त्याग करने से आमाशय खाली हो जाता है तथा जठराग्नि के रूप में जो प्राण ऊर्जा आहार को पचाने में कार्य करती है उसका उपयोग पाचन तंत्र की सफाई में लग जाता है, जिससे रक्त भी शुद्ध होने लगता है तथा शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ने लगती है। जैसी कहावत है– "पेट साफ तो रोग माफ" अतः नियमित कम से कम सप्ताह में एक दिन उपवास करने वालों को पाचन संबंधी रोग होने की अपेक्षाकृत कम संभावनाएँ रहती हैं। आहार शरीर को आवश्यक ऊर्जा और गर्मी प्रदान करता है जबकि उपवास शरीर को आरोग्य और शुद्धि प्रदान करता है। अधिकांश पशु–पक्षी स्व स्फूर्णा से रोग होने पर सर्व प्रथम आहार त्याग करते हैं। रोगावस्था में आहार न करने से रोगी नहीं रोग भूखों मरता है। बीमारी में तो किया गया आहार विशेष रूप से रोगी का नहीं, अपितु रोग का पोषण करता है। अतः नियमित रूप से उपवास करने वाला स्वस्थ तथा पाचन संबंधी रोग के समय आहार का त्याग करने वाला जल्दी स्वस्थ होता है।

भोजन से शरीर के विकास तथा संचालन हेतु आवश्यक ऊर्जा मिलती है। अतः यह आवश्यक है कि भोजन करते समय इन उद्देश्यों की पूर्ति का विशेष ख्याल रखा जाये। यदि इन बातों का ध्यान न रखा जाये तो भोजन स्वास्थ्यवर्धक होना चाहिये, स्वास्थ्य भक्षक बन जाता है।

उपवास का शाब्दिक अर्थ होता है आत्मा के समीप रहने की साधना। यदि आत्मा के समीप रहने की बात समझ में आ जाये तो, उपवास का लाभ कई गुणा बढ़ जाता है। समीप रहने का मतलब आत्म स्वभाव में रमण करना। उससे शरीर का शोधन और रोगाणुओं के शान्त होने के साथ–साथ चेतना की शुद्धि और अनुभूति होने लगती है। जिससे भाव, विचार, चिन्तन, मनन, एवं भाषा का भी शोधन होता है। वास्तव में तो यही सच्चा उपवास कहलाता है। खाली भोजन न करना तो लंघन ही कहा जा सकता है, जिससे शरीर का शोधन तो हो सकता है, परन्तु आत्मा का नहीं। अतः उपवास में अधिकाधिक स्वाध्याय, ध्यान आत्म चिन्तन, मनन, निरीक्षण एवं स्वदोषों की समीक्षा करनी चाहिए, मन और पांचों इन्द्रियों के अनावश्यक दुरूपयोग को रोक उनका सदुपयोग किया जाय तो आत्म विकार, मानसिक विकार, वाणी के विकार भी शरीर के विकार के साथ दूर हो जाते हैं तथा व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वस्थ होने लगता हैं।

पंच महाभूत का सिद्धान्त

भारतीय प्राचीन चिकित्सा पद्धति के अनुसार संसार के सभी चल–अचल पदार्थों की संरचना में आकाश, वायु, अग्नि, पानी और मिट्टी अर्थात् पृथ्वी आदि पंच महाभूत तत्त्वों की अहं भूमिका होती है। तुलसी दास जी ने भी कहा है — "क्षिति जल पावक गगन समीरा पंच रचित यह उद्यम शरीरा।" उनकी इस मान्यतानुसार शरीर के निर्माण, संचालन, नियन्त्रण का प्रमुख आधार भी ये पंच महाभूत होते हैं। पंच तत्त्वों के सहयोग से ही अधिकांश गतिविधियाँ होती हैं। आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, ज्योतिष एवं वास्तु शास्त्र आदि में शारीरिक रोगों का एक प्रमुख कारण इन पांच तत्त्वों का प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष कारणों से असंतुलन माना गया है।

प्रत्येक व्यक्ति में इन पांचों तत्त्वों का अलग–अलग अनुपात होता है। किसी में कोई तत्त्व अधिक होता है तो, किसी अन्य में दूसरा तत्त्व अधिक होता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार समस्त ग्रहों का प्रभाव व्यक्ति में पंच तत्त्वों की भिन्नता के अनुसार अलग–अलग होता है। इसी कारण दो जुड़वा भाई अथवा बहनों का स्वभाव, चरित्र और जीवन एक जैसा नहीं होता।

शरीर में पंच तत्त्व का प्रभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के अनुसार बदलता रहता है। हमेशा एक जैसा नहीं रहता। कभी कोई तत्त्व प्रभावी होता है तो थोड़े समय पश्चात् अन्य तत्व। प्रत्येक तत्त्व के तरंगों की गति, उनके स्वाद, सुगन्ध, स्पर्श आदि की संवेदनाएँ और अभिव्यक्ति अलग–अलग होती हैं। वैसे प्रत्येक तत्त्व का संबंध सारे शरीर, मन और मस्तिष्क से होता है। फिर भी वे शरीर की विभिन्न क्रियाओं, अंगों, अवयवों, संवेदनाओं को अलग–अलग ढंग से प्रभावित करते हैं।

पृथ्वी तत्त्व

पृथ्वी ठोस होतीं है। अतः शरीर में जो ठोस पदार्थ होते हैं, वे पृथ्वी तत्त्व से अधिक प्रभावित होते हैं। जैसे हड्डियाँ, मांस पेशियाँ, त्वचा, नाखून, बाल इत्यादि। पांचों तत्त्वों में पृथ्वी तत्त्व सबसे भारी होता है। पृथ्वी सभी को आधार देती हैं। शरीर में पैर उठते–बैठते, चलते–फिरते प्रायः शरीर को आश्रय देते हैं। शरीर का भार

वहन करते हैं। पगथली से लेकर गुदा तक पृथ्वी तत्त्व शरीर में अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय होता है। अतः पैर सम्बन्धी रोगों में प्रायः पृथ्वी तत्त्व के असन्तुलन की संभावनाएँ अधिक रहती है। साथ पृथ्वी तत्त्व की कमी से शरीर में दुर्बलता, कमजोरी, झुरियाँ पड़ना आदि हो जाते हैं, परन्तु इसके बढ़ने से मोटापा हो जाता है।

पृथ्वी तत्त्व के असंतुलन से शरीर में जडता बढ़ती है। किसी कार्य में एकाग्रता नहीं रहती तथा निर्णय लेने की क्षमता कम विकसित होती है। पृथ्वी तत्त्व घ्राणेन्द्रिय के प्रति अधिक संवेदनशील होता है। जिनकी घ्राणेन्द्रिय सक्रिय होती है, उनमें पृथ्वी तत्त्व का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक होता है। मन में दया, कोमलता का भाव, जोखिम उठाने की क्षमता, मस्तिष्क में भारीपन आदि का पृथ्वी तत्त्व से संबंध होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा आहार में सुधार और मिट्टी के उपचार द्वारा तत्त्व के असंतुलन को दूर किया जाता है।

जल तत्त्व

जल तत्त्व पृथ्वी से हल्का और तरल होता है। अतः धरती पर जल रहता है। पृथ्वी ही उसका आधार होती है। उसका बहाव सदैव नीचे की तरफ होता है। शरीर में गुदा से नाभि तक के भाग में जल तत्त्व की अधिकता होती है। शरीर में जितने तरल पदार्थ होते हैं, जैसे–रक्त, वीर्य, लासिका, मल, मूत्र, कफ, थूक, पसीना, मज्जा आदि का संबन्ध जल तत्त्व से अधिक होता है।

जल तत्त्व की कमी से शरीर में शुष्कता, त्वचा सम्बन्धी रोग, बालों का समय से पूर्व सफेद होना, प्यास अधिक लगना जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जबकि जल तत्त्व की अधिकता से कफ का बढ़ना, पसीना ज्यादा आना, पेशाब अधिक लगना आदि स्थितियाँ बनती हैं। शरीर में जल तत्त्व की अधिकता वाले अधिक भावुक और आसक्ति रखने वाले होते हैं। आलस्य और निद्रा की अधिकता रहती है एवं कठिन कार्य करने में अपनी मानसिकता देरी से बना पाते हैं।

जल तत्त्व के असंतुलन से व्यक्ति में आलस्य बढ़ने लगता है। कठोर, परिश्रम वाले कार्यों के करने में कठिनाई अनुभव होती है। स्वभाव में रूखापन होने लगता है। गहरी निद्रा नहीं आती। बात–बात में आवेग आने लगते हैं। जल तत्त्व की अधिकता वाले रसनेन्द्रिय के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। खाने पीने की चीजों के बारे में जल्दी प्रतिक्रिया करते हैं। शुद्ध जल के सेवन, सब्जियों, फलों के रस और अन्य तरल पदार्थों के सेवन से शरीर में जल तत्त्व की पूर्ति होती है।

प्राकृतिक चिकित्सक पानी का अलग–अलग प्रकार से शरीर में उपयोग करवा कर, उषापन, वाष्प स्नान, टब बाथ, एनिमा, नेति एवं अन्य जल सम्बन्धी क्रियाओं द्वारा जल तत्त्व को संतुलित करते हैं।

अग्नि तत्त्व

अग्नि एक ऊर्जा है, जिसका गुण है उष्णता। अग्नि जल से भी हल्की होती है और उसका स्वभाव ऊपर की तरफ उठना होता है। शरीर में नाभि से हृदय तक के भाग में इस तत्त्व की अधिकता होती है। नाभि का क्षेत्र जल तत्त्व और अग्नि तत्त्व के प्रभाव में रहता है। शरीर की उष्णता, जोश, उत्तेजना, स्फूर्ति आदि अग्नि तत्त्व से विशेष सम्बन्धित होते हैं।

अग्नि तत्त्व के असंतुलन से भूख और प्यास बराबर नहीं लगती। स्वभाव में चिड़चिड़ापन, शारीरिक ताकत में बदलाव, आँखों का तेज कम होने लगता है। पाचन बराबर नहीं होता। मस्तिष्क, सूर्य केन्द्र एवं प्रजनन संबंधी रोगों की संभावना बढ़ जाती है। चर्म रोग, जोड़ों का दर्द होने लगता है। धूप सेवन से शरीर में अग्नि तत्त्व की पूर्ति होती है। अग्नि तत्त्व की अधिकता से बुखार आना, शरीर में जलन होना, पित्त बढ़ना, भूख और प्यास ज्यादा लगना, क्रोध अधिक आना, भोग की इच्छा होना आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अग्नि तत्त्व का संबंध हमारी चक्षु इन्द्रिय से अधिक होता है। अग्नि तत्त्व की अधिकता वालों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। व्यायाम, धूप स्नान एवं सूर्य प्राणायाम से अग्नि तत्त्व बढ़ता है। जबकि आराम, निद्रा और चन्द्र प्राणायाम से अग्नि तत्त्व कम होता है।

वायु तत्त्व

वायु अग्नि से भी हल्की होती है। अतः अग्नि से ऊपर वाले शरीर के भागों में इसकी अधिकता होती है। शरीर में हृदय से कंठ तक वायु अपेक्षाकृत अधिक होती है। प्रायः वायु अस्थिर होती है। अतः शरीर में हलन–चलन, संकोचन, फैलने वाली गतिविधियों में इसकी प्रभावी भूमिका होती है। वायु तत्त्व की अधिकता वाले व्यक्ति स्पर्शेन्द्रिय के प्रति विशेष संवदेनशील होते हैं।

वायु तत्त्व के आवश्यक अनुपात में कमी होने से सम्बन्धित अंगों का हलन–चलन, श्वसन, रक्त प्रवाह, लासिका प्रवाह तथा शरीर में गतिशील अंगों में रोग होने की संभावना रहती है। शरीर में कम्पन अथवा खिंचाव भी हो सकता है। चिंता और भय लगने लगता है। फेंफड़ें, हृदय, गुर्दे आदि अंग विशेष प्रभावित होते हैं। वायु का अवरोध बढ़ने से गंठिया हो सकती है।

सही ढंग से पूरा, गहरा, दीर्घ श्वांस अथवा प्राणायाम से शरीर में वायु तत्त्व की पूर्ति होती है।

आकाश तत्त्व

आकाश खाली होता है। सभी को स्थान देता है। अतः शरीर में जहाँ–जहाँ रिक्तता होती है, वे भाग आकाश तत्व से सम्बन्धित होते हैं। आकाश तत्त्व की

अधिकता वालों की श्रोतेन्द्रिय अधिक संवेदनशील होता है। वे प्रत्येक बात को अधिक ध्यान से सुनते हैं। आकाश तत्त्व चारों तत्त्व को स्थान देता है। हमारे शरीर में पाँचों इन्द्रियों (आंख, कान, नाक, जीभ, स्पर्श) के माध्यम से जो ग्रहण किया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जो कुछ होता है, उसका सम्बन्ध आकाश तत्त्व से होता है। जैसे काम, क्रोध, मोह, लोभ, लज्जा इत्यादि। आकाश को निहारने, खुले आकाश में उठने, बैठने, चलने, फिरने, सोने अथवा उपवास करने से इस तत्त्व की पूर्ति होती है।

पंच तत्त्वों का शारीरिक अवयवों एवं प्रवृत्तियों से संबंध

शरीर में प्रत्येक अवयव किसी न किसी पंच महात तत्व से संबंधित होता है। जिसकी संक्षिप्त जानकारी नीचे दी जा रही है।

पृथ्वी तत्त्व – अस्थि, त्वचा, मांसपेशियाँ, नाखून, शरीर के बाल

जल तत्त्व – रक्त, वीर्य, मल, मूत्र, मज्जा, पसीना, कफ, लार

अग्नि तत्त्व – निद्रा, भूख, प्यास, आलस्य, शरीर का तेज, क्रोध, पाचन रस, शरीर का तापक्रम

वायु तत्त्व – धारण करना, फेंकना, सिकोड़ना, फैलाना, चलना, बोलना, चिन्तन, मनन, स्पर्श ज्ञान

आकाश तत्त्व – काम, क्रोध, मोह, लोभ, लज्जा, खालीपन, दुःख, चिंता, निर्विकल्पता दुष्प्रवृत्तियों, शारीरिक आवश्यकताओं और रोग संबंधी अवयवों के असंतुलन को संबंधित महाभूत तत्त्व को संतुलित कर आसानी से दूर किया जा सकता है। जिससे व्यक्ति रोग मुक्त, सजग बन सुखी जीवन जीते हुये अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

पंच तत्त्वों का ज्ञानेन्द्रियों से संबंध

प्रत्येक तत्त्व का किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय से विशेष संबंध होता है। बिना खाली स्थान ध्वनि की तरंगों का प्रवाह नहीं हो सकता, हमारे कान, कार्य नहीं कर सकते। अतः कान यानि श्रवण शक्ति, आकाश तत्त्व से सीधी संबंधित होती है। बिना वायु स्पर्श ज्ञान नहीं हो सकता। स्पर्श ज्ञान हेतु त्वचा का महत्व होता है। अतः स्पर्शेन्द्रिय एवं त्वचा का संबंध वायु तत्त्व से होता है। दृष्टि और नेत्र संबंध अग्नि तत्त्व से होता है। यदि जीभ में शुष्कता आ जाये तो स्वाद की पहचान नहीं होती। अतः जीभ का संबंध जल तत्त्व से होता है। पृथ्वी अलग–अलग गंध वाले पदार्थो का निर्माण करती है। अतः घ्राणेन्द्रिय और नाक उससे संबंधित होते हैं।

पगथली की आकृति प्रतिबिम्बित करती है—शरीर में पंच तत्त्वों की स्थिति

हमारे शरीर का सारा भार पगथली पर पड़ता है। अतः शरीर की बनावट का एवं उसमें उपस्थित पंच तत्त्वों का भी उससे अवश्य संबंध होना चाहिये। मां के गर्भ में आने से लगाकर मृत्यु तक हमारे जैसे संस्कार, वृत्तियाँ, सोच, आचरण, जीवनशैली आदि होती है, उसी के अनुरूप हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है एवं वे सभी हमारे पगथली पर प्रकट होने वाले लक्षणों के द्वारा प्रतिबिम्बित होते हैं। गर्भावस्था में हम अपनी माता की गतिविधियों से अधिक प्रभावित होते हैं। अज्ञानवश अथवा जिन घटनाओं को हम भूल जाते हैं, परन्तु जो हमें अभी भी प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से हमारी प्राण ऊर्जा को असंतुलित करती है, उसके प्रवाह में अवरोध पैदा करती है, वे सारे लक्षण पगथली में अंकित होते हैं। किसी भी तत्व के असंतुलन से पगथली के संबन्धित भाग में परिवर्तन होने लगता है। पगथली में परिवर्तन, फैलाव अथवा संकोचन, सूजन अथवा सलवटें पगथली में उससे संबन्धित तत्त्वों के असंतुलन का प्रतीक होती हैं। शरीर में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का उस पर प्रभव पड़ता है। प्रमुख घटनाओं के लक्षण स्थायी होते हैं। पगथली की आकृति इसके दर्पण के समान होती है।

व्यक्ति कैसे चलता है। उस समय उसकी शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्थिति पगथली से मालूम की जा सकती है। आकाश तत्त्व की पगथली में कोई विशेष स्थिति नहीं होती है। जबकि बाकी चारों तत्वों की स्थिति चित्रानुसार होती है। अमेरिकन डॉ. ए.वी.आई. ग्रिनवर्ग ने एक्यूप्रेशर की फुट रिफ्लेक्सोलोजी के अनुसार पगथली में शरीर के अंगों, उपांगों एवं अवयवों आदि का बाकी चार तत्वों के साथ संबंधों का अध्ययन किया तथा अलग–अलग प्रकार के लक्षणों से पड़ने वाले प्रभावों की शोध की। जिसके आधार पर पगथली को देखने मात्र से व्यक्ति के वर्तमनान एवं भूत की शारीरिक स्थिति का स्वतंत्र रूप से निदान किया जा सकता है। प्रभावित अंगों में उपचार कर रोग से मुक्ति मिल सकती है। जिज्ञासु व्यक्ति अनुभवी प्रशिक्षक से प्रशिक्षण प्राप्त कर चन्द दिनों में निदान परीक्षण एवं उपचार करने की विधि में दक्षता प्राप्त कर सकता है।

मुद्रा विज्ञान से संतुलित करिए पंच तत्त्वों को

शरीर में हथेली प्रमुख सक्रिय भाग

शरीर में सक्रिय अंगों में हाथ भी प्रमुख है। हथेली में एक विशेष प्रकार की प्राण ऊर्जा अथवा शक्ति का प्रवाह निरन्तर होता है। इसी कारण शरीर के किसी भाग में दु:ख, दर्द, पीड़ा होने पर सहज ही हाथ वहाँ चला जाता है। अंगुलियों में अपेक्षाकृत संवेदनशीलता अधिक होती है। इसी कारण अंगुलियों से ही नाड़ी की गति को देखा जाता है। जिससे मस्तिष्क में नब्ज की कार्यविधि का संदेश शीघ्र ही पहुँचता है। रेकी चिकित्सा में हथेली का ही उपयोग होता है। रत्न चिकित्सा में विभिन्न प्रकार के नगीने अंगूठी के माध्यम से हाथ की अंगुलियों में ही पहने जाते हैं। जिनकी तरंगों के प्रभाव से शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है। एक्यूप्रेशर चिकित्सा में हथेली में सारे शरीर के संवेदन बिन्दु होते हैं। सुजोक बायल मेरेडियन के सिद्धान्तानुसार अंगुलियों से ही शरीर के विभिन्न अंगों में प्राण ऊर्जा के प्रवाह को नियन्त्रित और संतुलित किया जा सकता है। अनुभवी हस्त रेखा विशेषज्ञ हथेली देख कर व्यक्ति के वर्तमान, भूत और भविष्य की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को बतला सकते हैं। कहने का आशय यही है कि हाथ, हथेली और अंगुलियों का मनुष्य की जीवन शैली से सीधा सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार हस्त योग मुद्राओं द्वारा पंच तत्त्वों को सरलता से संतुलित किया जा सकता है। ये मुद्राएँ शरीर में चेतना के शक्ति केन्द्रों में रिमोट कण्ट्रोल के समान स्वास्थ्य रक्षा और रोग निवारण करने में प्रभावशाली कार्य करती हैं। जिससे मानव भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति की तरफ अग्रसर होता है।

मुद्रा विज्ञान

हाथ की पाँचों अंगुलियों का सम्बन्ध पंच महाभूत तत्त्वों से होता है। प्रत्येक अंगुली अलग–अलग तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। जैसे कनिष्ठिका जल तत्त्व

से, अनामिका पृथ्वी तत्त्व से, मध्यमा अग्नि तत्त्व से, तर्जनी वायु तत्व से और अंगूठा आकाश तत्त्व से। परन्तु बहुत से योगी अंगूठे को अग्नि और मध्यमा को आकाश तत्त्व का प्रतीक मानते हैं। परन्तु ऐसा इसलिए उचित नहीं लगता क्योंकि आकाश तत्त्व ही सभी तत्त्व को आश्रय देता है, उसके सहयोग के बिना किसी भी तत्त्व का अस्तित्त्व नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार अंगूठे से ही अन्य सभी अंगुलियों का स्पर्श हो सकता है, मध्यमा से नहीं दूसरी बात मस्तिष्क में आकाश तत्त्व की प्रधानता होती है। अंगूठा मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करता है। एक्यूप्रेशर में मस्तिष्क के रोगों का उपचार अंगूठे से ही किया जाता है।

मुद्रा विज्ञान के अनुसार हमारी अंगुलियाँ ऊर्जा का नियमित, स्रोत होने के साथ साथ एन्टीना का कार्य भी करती है। शरीर में पंच तत्त्व की घटत–बढ़त से व्याधियाँ होती हैं। अंगुलियों को मिलाने, दबाने, स्पर्श करने, मरोड़ने तथा विशेष आकृति कुछ समय तक बनाए रखने से तत्त्वों में परिवर्तन किया जा सकता है। उसका स्नायु मण्डल और यौगिक चक्रों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अंगुलियों को अनावश्यक मरोड़ने एवं चटखाने से शक्ति का अपव्यय होता है।

अंगूठे को तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका के मूल में लगाने से उस अंगुलि से सम्बन्धित तत्त्व की वृद्धि होती है। अंगुलियों के प्रथम पौर में स्पर्श करने से तत्त्व सन्तुलित होता है तथा इन अंगुलियों को अंगूठे के मूल पर स्पर्श कर अंगूठे से दबाने से उस तत्त्व की कमी होती है। इस प्रकार विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से पंच तत्त्वों को इच्छानुसार घटाया अथवा बढ़ाकर सन्तुलित किया जा सकता है।

मुद्राओं के सामान्य नियम

मुद्राओं का अभ्यास बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी कर सकते हैं। मुद्राओं को चलते–फिरते, सोते–जागते, उठते–बैठते जब चाहें कर सकते हैं। परन्तु शान्त एकान्त स्थान पर एकाग्रचित से मुद्राएँ करने पर विशेष लाभ होता है। अपनी–अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सही मुद्राओं का अभ्यास करने से चमत्कारिक लाभ होता है।

नियमित और निश्चित् समय पर प्राणायाम के पश्चात् ध्यान के आसन में बैठ एकाग्र चित्त से दोनों हाथों में करने से तुरन्त लाभ होता है। कुछ विशेष मुद्राओं को छोड़ मुद्राएँ किसी भी अवस्था में की जा सकती है। रोग के समय लेटे–बैठे, चलते–फिरते अथवा बातचीत करते हुए मुद्राएँ की जा सकती हैं। अधिकांश मुद्राएं कम–से–कम एक घड़ी अर्थात् 48 मिनट लगातार करने चाहिए। जिससे उसका अपेक्षित लाभ प्राप्त हो सके।

रोग से सम्बन्धित मुद्राएँ रोग दूर होने के समय तक ही करनी चाहिए। परन्तु अन्य मुदाएँ स्वेच्दानुसार जितनी अधिक की जाती हैं, उतना अधिक लाभ मिलता है। रोग जितना पुराना होता है, उसके उपचार में उतना ही अधिक समय

लग सकता है। फिर भी अंशकालीन मुद्रा प्रयोग स्नायुमण्डल के केन्द्रों और मुख्य ऊर्जा चक्रों में प्रभावशाली कंपन उत्पन्न करने में सहायक होती है।

बांयें हाथ से जो मुद्रा की जाती है उसका प्रभाव दाहिने अंगों पर विशेष पड़ता है और दांयें हाथ से जो मुद्राएँ, की जाती हैं, उसका प्रभाव बायें भाग के अंगों पर विशेष पड़ता है। शरीर के आवश्यकतानुसार एक के बाद एक मुद्रा की जा सकती है। मुद्राएँ यथासम्भव दोनों हाथों से करनी चाहिए। मुद्रा करते समय अंगुलियों का स्पर्श हल्का और सहज होना चाहिए तथा जो अंगुलियाँ मुद्रा बनाने में काम नहीं आती, उन्हें सीधा ही रखना चाहिए। अन्य उपचारों के साथ भी मुद्राओं का उपयोग बिना किसी दुष्प्रभाव से किया जा सकता है।

चन्द प्रमुख मुद्राएँ

हथेली की अंगुलियों और अंगूठे की विविध स्थितियों से अलग–अलग मुद्राएँ बनती हैं। प्रत्येक मुद्रा का प्रभाव अलग–अलग होता है और इन मुद्राओं से शरीर में उपस्थित पंच महाभूत तत्त्व प्रभावित होते हैं। अतः अलग–अलग मुद्राओं द्वारा उन्हें सन्तुलित रख स्वस्थ रहा जा सकता है।

वैसे मुद्राएँ कभी भी किसी भी आसन में की जा सकती है, परन्तु स्वस्थ को वज्रासन अथवा पद्मासन में ही करना चाहिये। परन्तु रोगी सोते भी कर सकता है। मुद्रा एक हाथ में अथवा दोनों हाथो में की जा सकती हैं। मुद्राओं के नियमित अभ्यास से शरीर की ऊर्जा बढ़ती है। रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

कुछ मुद्राएँ रोग की अवस्था में ही की जाती है, तो पंच तत्त्वों को सम करने वाली ऊर्जाएं कभी भी की जा सकती है। यहाँ पर चन्द विशेष मुद्राओं की सामान्य उपयोगी जानकारी दी जा रही है। जिज्ञासु व्यक्ति मुद्रा विशेषज्ञों से सम्पर्क कर मुद्रा विज्ञान को सरलता से अनुभूत कर अपने आपको स्वस्थ रख सकते हैं। कुछ मुद्राएँ तत्काल प्रभाव डालती हैं। जैसे अपान वायु और शून्य मुद्रा। कुछ मुद्राएं दीर्घकालिक होती हैं, जो लम्बे समय के अभ्यास के पश्चात अपना स्थायी प्रभाव प्रकट करती हैं।

ज्ञान मुद्रा

अंगुष्ठे व तर्जनी के ऊपरी पोर को स्पर्श करने से जहाँ हल्का सा नाड़ी स्पन्दन अनुभव हो, ज्ञान–मुद्रा बनती है। हाथ की अलग–अलग स्थिति रखने से ज्ञान मुद्राओं का अलग–अलग प्रभाव पड़ता है, जिने अलग–अलग प्रवृत्तियाँ करते समय आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

लाभ – ज्ञान मुद्रा से मस्तिष्क संबंधी रोग, आलस्य, घबराहट, चिड़चिड़ापन, क्रोध, निराशा, तनाव, अनिद्रा, बैचेनी, ज्ञान तन्तु के विकार दूर होते हैं। तथा स्मरण शक्ति बढ़ती है। इस मुद्रा से आभा मण्डल आकर्षक बनता है और आत्म विकार

दूर होता है। ज्ञान मुद्रा अधिक से अधिक समय तक की जा सकती है। हस्त रेखा विज्ञान की दृष्टि से ज्ञानं मुद्रा करने में जीवन रेखा तथा बुद्ध ग्रह संबंधी दोष दूर होते हैं तथा अविकसित शुक्र पर्वत का भी विकास संभव होता है।

जब ज्ञान मुद्रा में दोनों हथेलियाँ कन्धे के बराबर सामने की तरफ होती हैं तो, व्यक्ति में निर्भयता आने से उस मुद्रा को अभय मुद्रा कहते हैं।

जब दायाँ हाथ हृदय के पास और बायाँ घुटने के ऊपर रख जब ज्ञान मुद्रा की जाती है तो उसे 'योग मुद्रा' अथवा 'वैराग्य मुद्रा' कहते हैं। भगवान गौतम की अधिकांश मूर्तियाँ इस आसन में ही देखने को मिलती है।

वायु मुद्रा

अंगुष्ठ से तर्जनी को दबाने से वायु मुद्रा बनती है शरीर में वायु के बढ़ने से होने वाले रोगों को शमन करती है, जैसे शरीर का कम्पन्न, जोड़ों का दर्द, गंठिया, रीढ की हड्डी संबंधी दर्द, वात राग, लकवा आदि के समय करने से रोगों में राहत मिलती है।

मुँह टेढ़ा पड़ जाने, गर्दन की जकड़न होने तथा गर्दन संबंधी अन्य रोगों में वायु मुद्रा का प्रयोग लाभ दायक होता है। वायु मुद्रा करने से हाथ के मध्य में वात नहीं नाड़ी में बन्ध लग जाता है। वात जन्य गंर्दन के दर्द में वायु मुद्रा लगाने के बाद हाथ की कलाई को दायां–बायां घुमाने से वात नाड़ी में खट–खट की ध्वनि होती है, जो उस कलाई को दूसरे हाथ से पकड़ कर वात नाड़ी पर अंगूठे से हल्का दबाव देते हुए, गोलाकार दाहिने बांये थोड़ी देर घुमाने के पश्चात बंद हो जाती है। उसके साथ ही गर्दन के दर्द मे आराम होने लगता है। यदि जकड़न और दर्द गर्दन के बायी तरफ हो तो बांयी कलाई को घुमाना चाहिए और यदि गर्दन के दाहिनी तरफ दर्द हो तो दाहिनी कलाइ को घुमाना चाहिये। परन्तु पूरी गर्दन में दर्द हो तो दोनों कलाईयों को एक के बाद एक घुमाना चाहिये। इसी प्रक्रिया से मुँह का टेढ़ापन भी ठीक हो जाता हैं।

आकाश मुद्रा

अंगुष्ठे के ऊपरी पौर को मध्यमा के ऊपरी पौर से स्पर्श करने से आकाश मुद्रा बनती है। इससे अग्नि तत्त्व सन्तुलित होता है। हड्डियां मजबूत होती हैं। मुख का तेज और कान्ति सुधरती है। विचार क्षमता बढती है, मानसिक संकीर्णता कम होती है। हृदय रोग में भी यह मुद्रा प्रभावकारी होती है। हस्त रेखा विज्ञान की दृष्टि से शनि ग्रह से संबंध रखने वाले रोगों में यह मुद्रा लाभकारी होती है।

शून्य मुद्रा

यह मुद्रा अंगुष्ठ से मध्यमा को दबा कर बाकी अंगुलियाँ सीधी रखने से

बनती है। इस मुद्रा से शरीर में मणिपुर चक्र से विशुद्ध चक्र तक के सभी चक्र प्रभावित होते हैं। बहरापन, कान के रोग, हिचकी, गूंगापन, सिर दर्द, विचार शून्यता दूर होती है। काम वासना नियन्त्रित होती है। मूत्रावरोध दूर होता है।

अंगुष्ठ को अनामिका के ऊपरी पौर से स्पर्श से यह मुद्रा बनती है। पृथ्वी तत्त्व सन्तुलित होने से शरीर की ताकत और पैरों की शक्ति बढ़ती है।

अनामिका के ऊपरी पौर को अँगूठे के मूल पर रख कर अंगूठे से दबाने पर यह मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से मोटापा व भारीपन घटता है। मानसिक तनाव में कमी आती है।

अंगुष्ठ का कनिष्ठिका के ऊपरी पौर पर स्पर्श करने से यह मुद्रा बनती है। कनिष्ठिका जो शरीर में जल तत्त्व का सन्तुलन करती है। जल तत्त्व की कमी से होने वाले रोगों में जैसे मांसपेशियों में खिंचाव, चर्म रोग, शरीर में रूक्षता आदि ठीक होते हैं। रक्त शुद्धि और त्वचा मे स्निग्धता लाने के लिये वरूण मुद्रा लाभदायक होती है।

प्राण मुद्रा —

कानिष्ठिका और अनामिका के ऊपरी पौर को अंगुठे से पौर से स्पर्श करने से यह मुद्रा बनती है, जो जल औ पृथ्वी तत्त्व को शरीर में सन्तुलन करने में सहयोग करती है।

इस मुद्रा से चेतना शक्ति जागृत होती है। शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। हस्त रेखा विज्ञान के अनुसार सूर्य की अंगुलि अनामिका समस्त प्राणशक्ति का केन्द्र मानी जाती है। बुद्ध की अंगुलि कनिष्ठिका युवा शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। अतः इस मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण शक्ति का संचार तेज होता है। रक्त संचार ठीक होने से रक्त नलिकाओं का अवरोध दूर होता है। साधक को भूख प्यास की तीव्रता नहीं सताती।

अपान मुद्रा

मध्यमा और अनामिका अंगुली के सिरे को अंगूठे के सिरे से स्पर्श करने से बनती है। इस मुद्रा से शरीर से विभिन्न प्रकार के विजातीय तत्त्वों की विसर्जन क्रिया नियमित होती है, ताकि अनावश्यक अनुपयोगी पदार्थ सरलता पूर्वक शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

इससे पेट में वायु का नियन्त्रण होने से पेट संबंधी वात रोगों में विशेष लाभ होता है। इस मुद्रा से मूत्राशय की कार्य प्रणाली सुधरती है। कब्ज और बवासीर में यह मुद्रा विशेष लाभ दायक होती है। यह मुद्रा दांतों को भी स्वस्थ रखती है। इस मुद्रा से पसीना नियमित ढंग से आने लगता है। शरीर में प्राण और अपान वायु संतुलित होती है।

अपान वायु मुद्रा

इस मुद्रा को मृत संजीवनी मुद्रा भी कहते हैं। तर्जनी को अंगुष्ठ के मूल से स्पर्श कर अंगूठे का अग्रभाग मध्यमा और अनामिका के ऊपरी पौर से स्पर्श करने व कनिष्ठिका को सीधी रखने से बनती है। इस मुद्रा से हृदयघात, हृदय रोग, हृदय की कमज़ोरी धड़कन, प्राण ऊर्जा की कमी, उच्च रक्त चाप, सिर दर्द, बेचैनी, पेट की गैस, घबराहट दूर होती है। दिल का दौरा पड़ने पर यह मुद्रा इंजेक्शन के समान तुरन्त प्रभाव दिखलाती है। हृदय के रोगियों को सीढ़िया चढ़ते समय यदि श्वांस फूलता हो तो सीढ़िया चढ़ने से पूर्व 10—15 मिनट इस मुद्रा को करने से श्वांस नहीं फूलता।

जलोदर नाशक मुद्रा

कनिष्ठिका को पहले अंगूठे की जड़ में लगा कर फिर अंगूठे से कनिष्ठिका को दबाने से जलोदर नाशक मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से शरीर में जल की वृद्धि से होने वाले रोग ठीक होते हैं। शरीर के विजातीय द्रव्य बाहर निकलने लगते हैं, जिससे शरीर निर्मल बनता है पसीना आने लगता है, मूत्रावरोध ठीक होता है।

शंख मुद्रा

बांयें हाथ के अंगूठे को दांयें हाथ की मुट्ठी में बन्द कर बांयें हाथ की तर्जनी का दाहिने हाथ के अँगूठे से मिला, बाकी तीनों अंगुलियों को मुट्ठी के ऊपरी रखने से शंख मुद्रा बनती है।

इस मुद्रा से वाणी संबंधी रोग जैसे तुतलाना, आवाज में भारीपन गले के रोग और थायराइड संबंधी रोगों में विशेष लाभ होता है। भूख अच्छी लगती है। वज्रासन में बैठकर यह मुद्रा करने से अधिक प्रभावकारी हो जाती है। हृदय के पास इस मुद्रा को हथेलियाँ रख कर करने से हृदय रोग में शीघ्र लाभ होता है। रक्त चाप कम होने लगता है।

लिंग मुद्रा

दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में फंसा कर दायें अंगूठे को ऊपर खड़ा रखने से यह मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से शरीर में गर्मी बढ़ती है। मोटापा कम होता है। कफ, नजला, जुकाम, खांसी, सर्दी संबंधी रोगों, फेंफड़ों के रोग, निम्न रक्त चाप आदि में कमी होती है। इस मुद्रा से शरीर में मौसम परिवर्तन से होने वाले सर्दी जन्य रोगों की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

संयमित, नियमित, परिमित, स्व अनुशासित एंव स्वनियंत्रित स्वावलंबी और सात्विक जीवन शैली ही स्वस्थ जीवन की प्राकृतिक विधि होती है।

स्वर चिकित्सा

सृष्टि की रचना में सूर्य और चन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हमारा जीवन अन्य ग्रहों की अपेक्षा सूर्य और चन्द्र से अधिक प्रभावित होता है। उसी के कारण दिन–रात होते हैं तथा जलवायु बदलती रहती है। समुद्र में ज्वार भी सूर्य एवं चन्द्र के कारण आता है। हमारे शरीर में भी लगभग दो तिहाई भाग पानी होता है। सूर्य और चन्द्र के गुणों में बहुत विपरीतता होती है। एक गर्मी का तो दूसरा ठण्डक का स्रोत माना जाता है। सर्दी और गर्मी सभी चेतनाशील प्राणियों को बहुत प्रभावित करते हैं। शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फारेनाइट निश्चित होता है और उसमें बदलाव होते ही रोग होने की संभावना होने लगती है।

मनुष्य के शरीर में भी सूर्य और चन्द्र की स्थिति शरीरस्थ नाड़ियों में मानी गई है। मूलधारा चक्र से सहस्त्रार चक्र तक शरीर में 72000 नाड़ियों का हमारे पौरणिक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। स्वर विज्ञान :– सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों को शरीर में स्थित इन सूक्ष्म नाड़ियों की सहायता से अनुकूल बनाने का विज्ञान है।

स्वर क्या है ?

नासिका द्वारा श्वास के अन्दर जाने और बाहर निकलते समय जो अव्यक्त ध्वनि होती है, उसी को स्वर कहते हैं।

नाड़ियाँ क्या है?

नाड़ियाँ चेतनाशील प्राणियों के शरीर में वे मार्ग हैं, जिनमें से होकर प्राण ऊर्जा शरीर के विभिन्न भागों तक प्रवाहित होती है। हमारे शरीर में तीन मुख्य नाड़ियाँ होती है। ये तीनों, नाड़ियाँ मूलधारा चक्र से सहस्त्रार चक्र तक मुख्य रूप से चलती है। इनके नाम ईडा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। इन नाड़ियों का सम्बन्ध स्थूल शरीर से नहीं होता। अतः आधुनिक यंत्रों, एक्स–रे, सोनोग्राफी आदि यंत्रों से अभी तक उनको प्रत्यक्ष देखना संभव नहीं हो सका है। जिन स्थानों पर ईडा, पिंगला और सुषुम्न नाड़ियाँ आपस में मिलती है, उनके संगम स्थल को शरीर में ऊर्जा चक्र अथवा शक्ति केन्द्र कहते हैं।

ईडा और पिंगला नाड़ी तथा दोनों नथूनों से प्रवाहित होने वाली श्वास के

बीच सीधा संबन्ध होता है। सुषुम्ना के बांयी तरफ ईडा और दाहिनी तरफ पिंगला नाड़ी होती है। ये दोनों नाड़ियाँ मूलधारा चक्र से बायें–दाहिने से होकर अपना क्रम परिवर्तित करती हुई सीधे ऊपर की तरफ बढ़ती है। प्रत्येक चक्र पर एक दूसरे को काटती हुई आगे नाक के नथूनों तक पहुँचती हैं। उनके इस परस्पर सम्बन्ध के कारण ही व्यक्ति नासिका के श्वांस प्रवाहों को प्रभावित करके अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर ईडा और पिंगला नाड़ी में संतुलन स्थापित कर सकता है।

श्वसन में दोनों नथूनों की भूमिका

जन्म से मृत्यु तक हमारे श्वसन की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। यह क्रिया दोनों नथूनों से एक ही समय समान रूप से प्रायः नहीं होती। श्वास कभी बांये नथुने से, तो कभी दाहिंने नथुने से चलती है। कभी–कभी थोड़े समय के लिए दोनों नथुने से समान रूप से चलते है।

बांयें नथून में जब श्वास की प्रक्रिया होती है। तो उसे ईडा नाड़ी में चलना, और जब दाहिने नथूने में श्वास की प्रक्रिया मुख्य होती है। तो उसे पिंगला नाड़ी में चलना तथा जब श्वास दोनों नथूनें में समान रूप से चलता है तो उस अवस्था को सुषुम्न नाड़ी में चलना कहते हैं। एक नथूने को दबाकर दूसरे नथूने के द्वारा श्वास बाहर निकालने पर यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि एक नथूने से जितना सरलतापूर्वक श्वास चलता है उतना, उसी समय प्रायः दूसरे नथूने से नहीं चलता। जुकाम आदि न होने पर भी मानों दूसरा नथूना प्रायः बन्द है, ऐसा अनुभव होता है। जिस समय जिस नथूने से श्वासं सरलतापूर्वक चलती है, उस समय उसी नथूने से सम्बन्धित नाड़ी में श्वास का चलना कहा जाता है तथा उस समय अव्यक्त स्वर को उसी नाड़ी के नाम से पहिचाना जाता है। अतः ईडा नाड़ी के चलने पर ईडा स्वर, पिंगला नाड़ी के चलने पर पिंगला स्वर और सुषुम्ना से श्वसन होने पर सुषुम्न स्वर प्रभावी होता है।

ईडा और पिंगला श्वास प्रवाहों का सम्बन्ध अनुकंपी (सिम्पेथेटिक) और परानुकम्पी (पेरासिम्पेथेटिक) स्नायु संस्थान से होता है, जो शरीर के विभिन्न क्रिया कलापों का नियन्त्रण और संचालन करते हुए उन्हें परस्पर संतुलित बनाए रखती है। ईडा और पिंगला दोनों स्वरों का कार्य क्षेत्र कुछ समानताओं के बावजूद अलग–अलग होता है। ईडा का संबंध ज्ञानवाही धाराओं, मानसिक क्रिया कलापों से होता है। पिंगला का संबंध क्रियाओं से अधिक होता है। अर्थात् ईडा शक्ति का आन्तरिक रूप होती है जबकि पिंगला शक्ति का बाह्य रूप तथा सुषुम्ना केन्द्रीय शक्ति होती है, तथा उसका संबंध केन्द्रीय नाड़ी संस्थान (Central Nervous System) से होता है। जब पिंगला स्वर प्रभावी होता है, उस समय शरीर की बाह्य क्रियाएँ सुगमता से होने लगती है। शारीरिक ऊर्जा दिन के समान सजग, सक्रिय और जागृत होने

लगती है। अतः पिंगला नाड़ी को सूर्य नाड़ी एवं उसके स्वर को सूर्य स्वर भी कहते हैं। परन्तु जब ईडा स्वर सक्रिय होता है तो, उस समय शारीरिक शक्तियाँ सुषुप्त अवस्था में विश्राम कर रही होती है। अतः आन्तरिक कार्यो हेतु अधिक ऊर्जा उपलब्ध होने से मानसिक सजगता बढ़ जाती है। चन्द्रमा से मन और मस्तिष्क अधिक प्रभावित होता है। क्योंकि चन्द्रमा को मन का मालिक भी कहते हैं। अतः ईडा नाड़ी को चन्द्र नाड़ी और उसके स्वर को चन्द्र स्वर भी कहते हैं। चन्द्र नाड़ी शीतल प्रधान होती है, जबकि सूर्य नाड़ी उष्ण प्रधान। सुषुम्ना दोनों के बीच संतुलन रखती है।

सूर्य स्वर – मस्तिष्क के बायें भाग एव शरीर में मस्तिष्क के नीचे के दाहिने भाग को नियन्त्रित करता है, जबकि चन्द्र स्वर मस्तिष्क के दाहिने भाग एवं मस्तिष्क के नीचे शरीर के बायें भाग से संबंधित अंगो, उपांगों में अधिक प्रभावकारी होता है। जो स्वर ज्यादा चलता है, शरीर में उससे संबंधित भाग को अधिक ऊर्जा मिलती है तथा बाकी बचे दूसरे भागों को अपेक्षित ऊर्जा नहीं मिलती। अतः जो अंग कमजोर होता है, उससे संबंधित स्वर को चलाने से रोग में शीघ्र लाभ होता है।

स्वस्थ मनुष्य का स्वर प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार चला करता है। उनका प्रकृति के विरूद्ध चलना शारीरिक और मानसिक रोगों के आगमन और भावी अमंगल का सूचक होता है। ऐसी स्थिति में स्वरों को निश्चित और व्यवस्थित ढंग से चलाने के अभ्यास से अनिष्ट और रोगों से न केवल रोकथाम होती है, अपितु उनका उपचार भी किया जा सकता है।

स्वर नियन्त्रण स्वास्थ्य का मूलाधार

स्वर विज्ञान भारत के ऋषि मुनियों की अद्‌भुत खोज है। उन्होंने मानव की प्रत्येक क्रिया–प्रतिक्रिया का सूक्ष्मता से अध्ययन किया, देखा, परखा तथा श्वास–निःश्वास की गति, शक्ति, सामर्थ्य के सम्बन्ध में आश्चर्य चकित कर देने वाली जो जानकारी हमें दी उसके अनुसार मात्र स्वरों को आवश्यकतानुसार संचालित, नियन्त्रित करके जीवन की सभी समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। जिसका विस्तृत विवेचन "शिव स्वरोदय शास्त्र" में किया गया है जिसमें युग पुरुष– शिवजी ने स्वयं पार्वती को स्वर के प्रभावों से परिचित कराया।

प्रकृति ने हमें अपने आपको स्वस्थ और सुखी रहने के लिए सभी साधन और सुविधाएँ उपलब्ध करा रखी हैं, परन्तु हम प्रायः प्रकृति की भाषा और संकेतों को समझने का प्रयास नहीं करते। हमारे नाक में दो नथूने क्यों? यदि इनका कार्य मात्र श्वसन ही होता तो एक छिद्र से भी कार्य चल सकता है। दोनों में हमेशा एक साथ बराबर श्वास निःश्वास की प्रक्रिया क्यों नहीं होती? कभी एक नथूने में श्वास का प्रवाह सक्रिय होता है तो, कभी दूसरे में क्यों? क्या हमारी गतिविधियों और श्वास

का आपस में तालमेल होता है? हमारी क्षमता का पूरा उपयोग क्यों नहीं होता? कभी–कभी कार्य करने में मन लग जाता है तो, कभी बहुत प्रयास करने के बावजूद हमारा मन क्यों नहीं लगता? ऐसी समस्त समस्याओं का समाधान स्वर विज्ञान में मिलता है। शरीर की बनावट में प्रत्येक भाग को कुछ न कुछ महत्त्व अवश्य होता है। कोई भी भाग अनुपयोगी अथवा पूर्णतया व्यर्थ नहीं होता।

स्वरों का प्रभाव

स्वरों और मुख्य नाड़ियों का आपस में एक दूसरे से सीधा सम्बन्ध होता है। ये व्यक्ति के सकारात्मक और नकारात्मक भावों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो, उसके भौतिक अस्तित्व से सम्बन्धित होते हैं। उनके सम्यक् संतुलन से ही शरीर के ऊर्जा चक्र जागृत और सजग रहते हैं। अन्तःश्रावी ग्रन्थियाँ क्रियाशील होती हैं।

चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी में प्राण वायु का प्रवाह नियमित रूप से बदलता रहता है। सामान्य परिस्थितियों में यह परिवर्तन प्रायः प्रति घंटे के लगभग अन्तराल में होता है, परन्तु ऐसा ही होना अनिवार्य नहीं होता। यह परिवर्तन हमारी शारीरिक और मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। जब हम अन्तर्मुखी होते हैं, उस समय प्रायः चन्द्र स्वर तथा जब हम बाह्य प्रवृत्तियों में सक्रिय होते हैं तो सूर्य स्वर अधिक प्रभावी होता है। यदि चन्द्र स्वर की सक्रियता के समय हम शारीरिक श्रम के कार्य करें तो उस कार्य में प्रायः मन नहीं लगता। उस समय मन अन्य कुछ सोचने लग जाता है। ऐसी स्थिति में यदि मानसिक कार्य करें तो, बिना किसी कठिनाई के वे कार्य सरलता से हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जब सूर्य स्वर चल रहा हो और उस समय यदि हम मानसिक कार्य करते हैं तो उस कार्य में मन नहीं लगता। एकाग्रता नहीं आती। इसके बावजूद भी जबरदस्ती कार्य करते हैं तो, सिर दर्द होने लगता है। कभी–कभी सही स्वर चलने के कारण मानसिक कार्य बिना किसी प्रयास के होते चले जाते है तो, कभी–कभी शारीरिक कार्य भी पूर्ण रूचि और उत्साह के साथ होते हैं।

यदि सही स्वर में सही कार्य किया जाए तो हमें प्रत्येक कार्य में अपेक्षित सफलता सरलता से प्राप्त हो सकती है। जैसे अधिकांश शारीरिक श्रम वाले साहसिक कार्य जिसमें अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है, सूर्य स्वर में ही करना अधिक लाभदायक होता है। सूर्य स्वर में व्यक्ति की शारीरिक कार्य क्षमता बढ़ती है। ठीक उसी प्रकार जब चन्द्र स्वर चलता है, उस समय व्यक्ति में चिन्तन, मनन और विचार करने की क्षमता बढ़ती है।

स्वर द्वारा ताप संतुलन

जब चन्द्र स्वर चलता है तो शरीर में गर्मी का प्रभाव घटने लगता है। अतः गर्मी सम्बन्धित रोगों एवं बुखार के समय चन्द्र स्वर को चलाया जाये तो बुखार

शीघ्र ठीक हो सकता है। ठीक इसी प्रकार भूख के समय जठराग्नि, भोग के समय कामाग्नि और क्रोध, उत्तेजना के समय प्रायः मानसिक गर्मी अधिक होती है। अतः ऐसे समय चन्द्र स्वर को सक्रिय रखा जावे तो उन पर सहजता से नियन्त्रण पाया जा सकता है।

शरीर में होने वाले जैविक रसायनिक परिवर्तन जो कभी शान्त और स्थिर होते हैं तो कभी तीव्र और उग्र भी होते हैं। जब शरीर में ताप असंतुलन होता है तो शरीर में रोग होने लगते हैं। अतः यह प्रत्येक व्यक्ति के स्वविवेक पर निर्भर करता है कि उसके शरीर में कितना तापीय असंतुलन है और उसके अनुरूप अपने स्वरों का संचालन कर अपने आपको स्वस्थ रखें। जब दोनों स्वर बराबर चलते हैं, शरीर की आवश्यकता के अनुरूप चलते हैं। तब ही व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

दिन में सूर्य के प्रकाश और गर्मी के कारण प्रायः शरीर में गर्मी अधिक रहती है। अतः सूर्य स्वर से सम्बन्धित कार्य करने के अलावा जितना ज्यादा चन्द्र स्वर सक्रिय होगा उतना स्वास्थ्य अच्छा होता है। इसी प्रकार रात्रि में दिन की अपेक्षा ठण्डक ज्यादा रहती है। चांदनी रात्रि में इसका प्रभाव और अधिक बढ़ जाता है। श्रम की कमी अथवा निद्रा के कारण भी शरीर में निष्क्रियता रहती है। अतः उसको संतुलित रखने के लिए सूर्य स्वर को अधिक चलाना चाहिए। इसी कारण जिन व्यक्तियों के दिन में चन्द्र स्वर और रात में सूर्य स्वर स्वभाविक रूप से आधिक चलता है, वे मानव दीर्घायु होते हैं।

चन्द्र और सूर्य नाड़ी का असन्तुलन ही थकावट, चिंता तथा अन्य रोगों को जन्म देता है। अतः दोनो का संतुलन और सामन्जस्य स्वस्थता हेतु अनिवार्य है। चन्द्र नाड़ी का मार्ग निवृति का मार्ग है, परन्तु उस पर चलने से पूर्व सम्यक् सकारात्मक सोच आवश्यक है। इसी कारण पातंजली योग और कर्म निर्जरा के भेदों में ध्यान से पूर्व स्वाध्याय की साधना पर जोर दिया गया है। स्वाध्याय के अभाव में नकारात्मक निवृत्ति का मार्ग हानिकारक और भटकाने वाला हो सकता है। आध यात्मिक साधको को चन्द्र नाड़ी की क्रियाशीलता का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

लम्बे समय तक रात्रि में लगातार चन्द्र स्वर चलना और दिन में सूर्य स्वर चलना, रोगी की अशुभ स्थिति का सूचक होता है और उसकी आयुष्य चन्द मास ही शेष रहती है।

सूर्य नाड़ी का कार्य प्रवृत्ति का मार्ग है। यह वह मार्ग है जहां अन्तर्जगत गौण होता है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ तथा महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु कठिन परिश्रम करता है। कामनाओं और वासनाओं की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होता है। इसमें चेतना अत्यधिक बहिर्मुखी होती है। अतः ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक पथ पर सफलता पूर्वक आगे नही बढ़ पाते।

चन्द्र और सूर्यनाड़ी के क्रमशः प्रवाहित होते रहने के कारण ही व्यक्ति

उच्च सजगता में प्रवेश नहीं कर पाता। जब तक ये क्रियाशील रहती हैं, योगाभ्यास में अधिक प्रगति नहीं हो सकती। जिस क्षण ये दोनों शांत होकर सुषुम्ना के केन्द्र बिन्दु पर आ जाती है, तभी सुषुम्ना की शक्ति जागृत होती है और वहीं से अन्तर्मुखी ध्यान का प्रारम्भ होता है।

सुषुम्ना

चन्द्र और सूर्य नाड़ी में जब श्वांस का प्रवाह शांत हो जाता है तो सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति की सुप्त शक्तियां सुव्यवस्थित रूप से जागृत होने लगती है। अतः वह समय अन्तर्मुखी साधना हेतु सर्वाधिक उपर्युक्त होता है। व्यक्ति में अहं समाप्त होने लगता है। अहं और आत्मज्ञानी उसी प्रकार एक साथ नहीं रहते, जैसे दिन के प्रकाश में अन्धेरे का अस्तित्व नहीं रहता। अपने अहंकार को न्यूनतम करने का सबसे उत्तम उपाय सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी के प्रवाह को संतुलित करना है। जिससे हमारे शरीर, मन और भावनायें कार्य के नये एवं परिष्कृत स्तरों में व्यवस्थि ते होने लगती है। चन्द्र और सूर्य नाड़ी का असंतुलन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता है। जीवन में सक्रियता व निष्क्रियता में, इच्छा व अनिच्छा में, सुसुप्ति और जागृति में, पसन्द और नापसन्द में, प्रयत्न और प्रयत्नहीनता में, पुरूषार्थ और परूषार्थ हीनता मे विजय और पराजय में, चिन्तन और निश्चितता में तथा स्वछन्दता और अनुशासन में दृष्टिगोचर होता है।

ध्यान कब करें?

जब चन्द्र नाड़ी से सूर्य नाड़ी में प्रवाह बदलता है तो इस परिवर्तन के समय एक साम्य अथवा संतुलन की अवस्था आती है। उस समय प्राण ऊर्जा सुषुम्ना नाड़ी से प्रवाहित होती है अर्थात् यों कहना चाहिये कि सुषुम्ना स्वर चलने लगता है। यह साम्य अवस्था मात्र थोड़ी देर के लिए ही होती है। यह समय ध्यान के लिए सर्वोत्तम होता है। ध्यान की सफलता के लिए प्राण ऊर्जा का सुषुम्ना में प्रवाह आवश्यक है। इस परिस्थिति में व्यक्ति न तो शारीरिक रूप से अत्याधिक क्रियाशील होता है और न ही मानसिक रूप से विचारों से अति विक्षिप्त। प्राणायाम एवं अन्य विधियों द्वारा इस अवस्था को अपनी इच्छानुसार प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि योग साधना में प्राणायाम को इतना महत्व दिया जाता है। प्राणायाम ध्यान हेतु ठोस आधार बनाता है। कपाल भाति प्राणायाम करने से सुषुम्ना स्वर शीघ्र चलने लगता है।

स्वरों की पहचान

नथूने के पास अपनी अंगुलियां रख श्वसन क्रिया का अनुभव करें। जिस

समय जिस नथूने से श्वास प्रवाह होता है, उस समय उस स्वर की प्रमुखता होती है। बांये नथूने से श्वास चलने पर चन्द्र स्वर, दाहिने नथूने से श्वास चलने पर सूर्य स्वर तथा दोनों नथूने से श्वास चलने की स्थिति को सुषुम्ना स्वर का चलना कहते हैं।

स्वर को पहचानने का दूसरा तरीका है कि हम बारी–बारी से एक नथूना बंद कर दूसरे नथूने सें श्वास ले और छोड़ें। जिस नथूने से श्वसन सरलता से होता है, उस समय उससे सम्बन्धित स्वर प्रभावी होता है।

स्वर बदलने के नियम

अस्वाभाविक अथवा प्रवृत्ति की आवश्यकता के विपरीत स्वर शरीर में अस्वस्थता का सूचक होता है। निम्न विधियों द्वारा स्वर को सरलतापूर्वक कृत्रिम ढंग से बदला जा सकता है,ताकि हमें जैसा कार्य करना हो उसके अनुरूप स्वर का संचालन कर प्रत्येक कार्य को सम्यक् प्रकार से पूर्ण क्षमता के साथ कर सकें।

1. जो स्वर चलता हो, उस नथूने को अंगुलि से या अन्य किसी विधि द्वारा थोड़ी देर तक दबाये रखने से, विपरीत इच्छित स्वर चलने लगता है।
2. चालू स्वर वाले नथूने से पूरा श्वास ग्रहण कर, बन्द नथूने से श्वास छोड़ने की क्रिया बार–बार करने से बन्द चलने लगता है।
3. जो स्वर चालू करना हो, शरीर में उसके विपरीत भाग की तरफ करवट लेकर सोने तथा सिर को जमीन से थोड़ा ऊपर रखने से इच्छित स्वर चलने लगता है।
4. जिस तरफ का स्वर बंद करना हो, उस तरफ की बगल में दबाव देने से चालू स्वर बंद हो जाता है तथा इसके विपरीत दूसरा स्वर चलने लगता है।
5. जो स्वर बंद करना हो, उसी तरफ के पैरों पर दबाव देकर, थोड़ा झुक कर उसी तरफ खड़ा रहने से, उस तरफ का स्वर बन्द हो जाता है।
6. जो स्वर बंद करना हो, उधर गर्दन को घुमाकर ठोडी पर रखने से कुछ मिनटों में वह स्वर बन्द हो जाता है।
7. घी अथवा शहद जो भी बराबर पाचन हो सके, पीने से चालू स्वर तुरन्त बन्द हो जाता है। परन्तु साधारण अवस्था में दूध या अन्य तरल पदार्थ पीने से भी स्वर बदली हो जाती है।
8. चलित स्वर में स्वच्छ रूई डालकर नथून में अवरोध उत्पन्न करने से स्वर बदल जाता है।
9. कपाल–भाति और नाड़ी शोधन प्राणायाम से सुषुम्ना स्वर चलने लगता है।

निरन्तर चलते हुए सूर्य या चन्द्र स्वर के बदलने के सारे उपाय करने पर भी यदि स्वर न बदले तो रोग असाध्य होता है तथा उस व्यक्ति की मृत्यु समीप होती है। मृत्यु के उक्त लक्षण होने पर भी स्वर परिवर्तन का निरन्तर अभ्यास किया जाये तो मृत्यु को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है।

वैसे तो शरीर में चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर चलने की अवधि व्यक्ति की जीवनशैली और साधना पद्धति पर निर्भर करती है। परन्तु जनसाधारण में चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर 24 घंटों में बराबर चलना अच्छे स्वास्थ्य का सूचक होता है। दोनों स्वरों में जितना ज्यादा असंतुलन होता है उतना ही व्यक्ति अस्वस्थ अथवा रोगी होता है। संक्रामक और असाध्य रोगों में यह अन्तर काफी बढ़ जाता है।

चिकित्सा में स्वरों की प्रयोग विधी

1. गर्मी सम्बन्धी रोग :– गर्मी, प्यास, बुखार, पित्त सम्बन्धी रोगों में चन्द्र स्वर चलाने से शरीर में शीतलता बढ़ती है, जिससे गर्मी से उत्पन्न असंतुलन दूर हो जाता है।

2. कफ सम्बन्धी रोग :– सर्दी, जुकाम, खांसी, दमा आदि कफ सम्बन्धी रोगों में सूर्य स्वर अधिकाधिक चलाने से शरीर में गर्मी बढ़ती है। सर्दी का प्रभाव दूर होता है।

3. आकस्मिक रोग :– जब रोग का कारण समझ में न आये और रोग की असहनीय स्थिति हो, ऐसे समय रोग का उपद्रव होते ही जो स्वर चल रहा है उसको बन्द कर विपरीत स्वर चलाने से तुरन्त राहत मिलती है।

प्रत्येक व्यक्ति को स्वर में होने वाले परिवर्तनों का नियमित आंकलन और समीक्षा करनी चाहिये। दिन–रात 12 घंटे चन्द्र और 12 घंटे सूर्य स्वर चलना संतुलित स्वास्थ्य का सूचक होता है।

यदि एक स्वर ज्यादा और दूसरा स्वर कम चले तो शरीर में असंतुलन की स्थिति बनने से रोग होने की संभावना रहती है। हम स्वर के अनुकूल जितनी ज्यादा प्रवृत्तियां करेंगे, उतनी अपनी क्षमताओं का अधिकाधिक लाभ अर्जित कर सकेंगे।

स्वरोदय विज्ञान के अनुसार व्यक्ति प्रातः निद्रा त्यागते समय अपना स्वर देखें। जो स्वर चल रहा है, धरती पर पहले वही पैर रखे। बाहर अथवा यात्रा में जाते समय पहले वह पैर आगे बढ़ावे, जिस तरफ का स्वर चल रहा है। साक्षात्कार के समय इस प्रकार बैठे की साक्षात्कार लेने वाला व्यक्ति बन्द स्वर की तरफ हो, तो सभी कार्यों में इच्छित सफलता अवश्य मिलती है।

योग चिकित्सा

योग क्या है?

योग शब्द 'युज्' धातु से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है जुड़ना–मिलना। जब व्यक्ति अपनी आत्मा से जुड़ जाता है तथा उससे साक्षात्कार कर लेता है तो वह स्वयं को नर से नारायण और आत्मा को परमात्मा बना देता है। योग सुखी जीवन जीने की सरल एवं प्रभावशाली श्रेष्ठ विधि है। जिसके द्वारा मनुष्य का शरीर पूर्ण स्वस्थ, इन्द्रियों में अपार शक्ति, मन में अपूर्व आनन्द, बुद्धि में सम्यक् ज्ञान एवं भावों में कषायों की मंदता और सजगता आती है, वही सच्चा योग होता है। योग साधना से मनुष्य जन्म–मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। योग द्वारा शरीर से रोग, इन्द्रियों से थकावट और कमजोरी, मन से चिंता, भय, तनाव, आवेगों से अपने आपको मुक्त रखा जा सकता है। वर्तमान में प्रचलित योग का मुख्य आधार पातंजलि द्वारा निर्धारित अष्टांग योग साधना है। पातंजलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान और समाधि के द्वारा योग के आठ अंगों का क्रमानुसार निर्देश किया है। जिसको सम्यक् विधि से क्रियान्विति करने पर मनुष्य अपने परम लक्ष्य मोक्ष तक को प्राप्त कर सकता है। योग की सारी साधना व्यक्ति के स्वयं के सम्यक् पुरूषार्थ पर ही निर्भर करती है। जो मानव की सम्यक् जीवन शैली का ही रूप होता है। योग शरीर को विशेष प्रकार से मोड़ना अथवा घुमाना मात्र व्यायाम ही नहीं है, अपितु मन, वचन और काया का सम्यक् संयम, तालमेल और संतुलन ही सच्चा योग होता है। वास्तव में योग सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचरण की उत्कृष्ट साधना है। जिससे शरीर, मन और आत्मा ताल से ताल मिलाकर कार्य करते हैं। तीनों के विकारों से लड़ने की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है तथा तीनों निर्विकारी बनते हैं। यही मनुष्य जीवन का ध्येय होता है।

यम

यम का मतलब होता है निग्रह अर्थात् छोड़ना। हम जीवन में क्या छोड़ें? क्यों छोड़ें? हमारे जीवन को जो विकारी बनाते हैं, पतित बनाते है, जीवन के लिए

जो अकरणीय हैं, उनको छोड़ें बिना जीवन का विकास हो नहीं सकता। पातंजलि ने ऐसे पांच यमों को योग की आधारशिला माना है। ये पांच यम हैं हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन या व्याभिचार तथा अपरिग्रह का त्याग। मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ तीन करण द्वारा होती है। जैसे स्वयं किसी कार्य को करना, दूसरों से किसी कार्य को करवाना तथा तीसरा कार्य करने वालों की अनुमोदना या प्रशंसा करना। उसके साथ तीन में से कोई न कोई योग अवश्य होता है। ये तीन योग हैं, मन का योग, वचन का योग और काया का योग। जैसे किसी कार्य को मन से करना, वाणी से करना, काया से करना। अन्य से करवाना अथवा कार्य करने वालों की मन, वाणी या काया से अनुमोदन करना, सहयोग देना। बिना कारण और योग के कार्य हो नहीं सकता। किसी प्रवृत्ति के लिए कम से कम तीन करण और तीन योग में से एक करण और एक योग का होना अनिवार्य होता है। सच्चा साधक इन पाँचों यमों का पूर्ण रूप से तीन करण और तीन योग से जीवन भर पालन करता है। उसके लिए संकल्प बद्ध होता है। अतः उनके व्रतों का महाव्रत कहते हैं। जैसे—जीवन पर्यन्त मन, वचन और काया से किसी जीव को न तो स्वयं कष्ट पहुँचाना, न किसी अन्य व्यक्ति से कष्ट पहुँचाने में सहयोगी बनना ओर न प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से किसी भी चेतनाशील प्राणी को कष्ट पहुँचाने वाले को प्रोत्साहित करना, अच्छा न मानना ही हिंसा का पूर्णतः त्याग होता है। हिंसा—अहिंसा को जानने के लिए जीव क्या है? अजाव क्या है? का जानना, समझना आवश्यक है? उसके बिना पूर्ण अहिंसा का पालन कैसे संभव हो सकता है? परन्तु आज के मानव ने हिंसा को मात्र मानव तक सीमित कर दिया है। स्वार्थवश अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाते उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। वनस्पति और पानी में भी आधुनिक विज्ञान ने जीव माना है परन्तु उनका दुरूपयोग करते प्रायः अधिकांश अहिंसक कहलाने वाले मानव तनिक भी नहीं हिचकिचाते। पृथ्वी, वायु और अग्नि में भी जीव होते हैं। अतः उनका कैसे उपयोग किया जाये, जानना और समझना आवश्यक है।

मन में जैसा सम्यक् ज्ञान से सोचा समझा हो, आंखों से जैसा जो कुछ देखा हो और कानों से जैसा जो कुछ सुना हो उसे ठीक वैसा ही अभिव्यक्त न करना झूठ कहलाता है और वैसा ही प्रस्तुतिकरण करना सत्य कहलाता है। किसी की वस्तु को बिना पूछे लेना चोरी कहलाता है। समस्त इन्द्रियों के विषय विकारों पर संयम न रखना असंयम कहलाता है और उनका संयम ब्रह्मचर्य होता है। जबकि परिग्रह का मतलब धन, परिवार और अन्य भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति भाव या लगाव होना। अतः योगाभ्यास करने से पूर्व प्रत्येक साधक के लिए इन दुर्गुणों को त्याग कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन आवश्यक होता है। जो योग की सफलता की आधारशिला है।

नियम

नियम अथवा सिद्धान्त जीवन की वे प्रवृत्तियाँ हैं, जो योग के लिए अनिवार्य होती है तथा जो यम के पालन मे सहयोग करते हैं। मुख्य नियम भी पांच हैं। शौच अर्थात् शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान। शौच का मतलब मन, वाणी और काया की पवित्रता अर्थात् आत्मा की विकारों से शुद्धि। संयोग–वियोग, अनुकूल–प्रतिकूल, लाभ–हानि के प्रसंगों पर सदैव प्रसन्नचित्त रहना, विचलित न होना अर्थात् समभाव रखना ही संतोष कहलाता है। सुख दुःख, सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास जैसे कष्टों को आत्म शुद्धि के लिए सम्यक् दृष्टिकोण से की जाने वाली मन, वचन और काया की साधना को तप कहते हैं। तप का मतलब है, जो आत्मा को तुरन्त पवित्र करे। जिस प्रकार अग्नि में सोना तपाने से उसका मैल दूर हो जाता है, सोना शुद्ध हो जाता है। ठीक उसी प्रकार तप की अग्नि से शरीर की इन्द्रियां, मन और आत्मा के विकार भी दूर हो जाते हैं। तप मुख्तया दो प्रकार का होता है। पहला बाह्य तप जिसके द्वारा पांचों इन्द्रियों और मन की बाह्य अशुभ प्रवृत्तियों को त्यागा जाता है। दूसरा है आन्तरिक तप। जो व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाता है।

यम नियम के पालन से शरीर के अवयव रसायनयुक्त हो जाते हैं। उनमें रोग प्रतिकारात्मक क्षमता बढ़ जाती है तथा मनोबल मजबूत हो जाता है। विकार दूर हो जाते है। समभाव की प्राप्ति होने से मन और मस्तिष्क में सन्तुलन हो जाता है। जो स्वास्थ्य की आधारशिला होती है। बिना यम नियम के पालन से योग का आंशिक लाभ ही मिलता हैं।

आसन व्यायाम का ही वैज्ञानिक रूप होता है। आसनों से शरीर के ऊर्जा केन्द्र जागृत होते हैं और शरीर में आवश्यक हारमोन्स बनाने वाली अन्तःश्रावी ग्रन्थियां बराबर कार्य करनें लगती है। आसनों के अलावा प्रायः अन्य कोई ऐसा सरल व्यायाम नहीं होता जिससे शरीर के सभी अंगों की यथोचित कसरत हो सके।

योग साधकों के लिए अन्य व्यायामों की अपेक्षा आसन ही अधिक उपयोगी होते हैं। आसन में, अन्य पहलवानी जैसे, कठिन व्यायामों जितनी ऊर्जा खर्च नहीं होती, जिसकी पूर्ति के लिए अधिक मात्रा में पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है। राजसिक पौष्टिक आहार से इन्द्रियाँ उत्तेजित होती है, वृत्तियाँ राजसिक और तामसिक बनती है। परन्तु योगी के लिए अल्प सीमित और सात्विक आहार लेने का ही विधान होता है। अतः योगियों के लिए आसन ही श्रेष्ठता व्यायाम होता है।

नियमित करणीय आसन

गोदुहासन

गोदुहासन में दोनों पंजों के बल बैठा जाता है। इस आसन में जितना

अधिक बैठने का अभ्यास किया जाता है, उतना अधिक शरीर एवं मेरू दण्ड का संतुलन बना रहता है। शरीर का संवदेन तंत्र अधिक सक्रिय रहता है। ध्यान में एकाग्रता आती है। भगवान महावीर को इसी आसन में ध्यान करते हुए केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई

ताडासन से रोग ग्रस्त मांसपेशियों का निदान

हमारा शरीर मज्जा तंत्र, नाड़ी तंत्र, अस्थि तंत्र आदि अनेक तंत्रों से मिलकर बना होता है। रोग की अवस्था में सभी तंत्रों की कार्य प्रणाली प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से कम ज्यादा अवश्य प्रभावित होती है। अतः किसी भी विधि द्वारा यदि किसी भी तंत्र को पूर्णतः स्वस्थ कर लिया जाता है तो, शरीर में असाध्य एवं संक्रामण रोगों की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। कमजोर मांस पेशियों का निदान करने में ताडासन् की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

इस आसन में दोनों पंजों के बल जितनी देर खड़ा रहा जा सकता उतनी देर तक खड़े होकर दोनों हाथों को सिर से ऊपर की तरफ जितना सहन हो सके, खिंचाव दिया जाता है। परिणाम स्वरूप पगथली से लगाकर गर्दन तक सारी मांसपेशियों में तनाव यानि खिंचाव होने लगता है। परिणामस्वरूप, जो–जो मांसपेशियाँ अशक्त अथवा कमजोर होती हैं, उनमें उपस्थित विकारों के अनुरूप दर्द एवं पीड़ा होने लगती है। जितना अधिक दर्द होता है, उतनी ही वे मांसपेशियाँ विकार ग्रस्त होती हैं। साधारण अवस्था में उन मांसपेशियों में दर्द की अनुभूति न होने से उनके रोगों का जनसाधारण को प्रायः पता नहीं चलता, परन्तु वे रोग को अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य सहयोग करती हैं। यदि उन पीड़ाग्रस्त मांसपेशियों का आगे के अध्यायों में बतलाई गई उपचार पद्धतियों द्वारा उपचार कर ठीक कर लिया जाता है तो, शरीर में किसी भी नाम से उपस्थित प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रोग शीघ्र ठीक होने लगता है।

शवासन

शवासन शरीर के शिथिलीकरण का सरलतम उपाय है। उस अवस्था में मांसपेशियों का हलन–चलन बंद हो जाने से, मांसपेशियों की सूचना मस्तिष्क तक पहुंचाने वाली संवेदना नाड़ी तथा मस्तिष्क से मांसपेशियों को निर्देश लाने वाली क्रियाशील नाड़ी (मोटर नर्व) दोनों का कार्य बंद हो जाता है। अतः शवासन में हम जितना अधिक निष्क्रिय होते हैं, उतना ही अधिक मांसपेशियों को आराम मिलता है।

शारीरिक आवश्यकतानुसार आसनों का विभाजन

आसन वैसे तो अनेक होते हैं। फिर भी इनको मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. विश्रामात्मक आसन – जो शरीर की थकान दूर करते हैं।
2. ध्यानात्मक आसन – जो ध्यान के लिए विशेष उपयोगी होते हैं।
3. व्यायात्मक आसन – जो शरीर को स्वस्थ, लचीला और रोग मुक्त करते हैं।

शरीर की स्थिति के अनुसार आसनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. खड़े–खड़े करने वाले आसन– इन आसनों में हाथ, पैर और कमर का परिश्रम अधिक होता हैं
2. बैठ कर करने वाले आसन में पीठ, गर्दन, कंधे अधिक श्रम करते हैं।
3. लेट कर करने वाले आसन में पेट, छाती, गले आदि को अधिक श्रम करना पड़ता है।

दैनिक कार्यक्रमों में हमें चिन्तन करना होगा कि किन अंगों को अधिक परिश्रम करना पड़ता है और शरीर के किन भागों को कम श्रम करना पड़ता है। जिन अंगों को अधिक कार्य करना पड़ता है, उन अंगों के लिए व्यायाम की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि जो अंग कम अथवा बिल्कुल कार्य नहीं करते हैं उनके लिए होती है।

सही आसनों का चयन आवश्यक

जो अंग कम कार्य करते हैं अथवा अधिक निर्बल होते हैं, उन्हें सतेज एवं पुष्ट करने की विशेष आवश्यकता होती है। अतः आसन का चयन करते समय इस बात का विवेक रखा जाये कि अधिक कार्य करने वाले को आराम दिया जाए अन्यथा अधिक श्रम की गर्मी से शरीर का वह भाग विकृत हो जायेगा। साथ ही जो भाग कम कार्य करते हैं, उनसे श्रम कराया जाये, अन्यथा शरीर का वह भाग निस्तेज, निष्क्रिय, निकम्मा, क्रियाहीन और कमजोर होकर रोगों का घर बन जायेगा।

अनुभवियों का ऐसा निष्कर्ष हैं कि कमजोर, वृद्ध और बुद्धिजीवी लोगों को लेटकर किये जाने वाले आसन प्रायः अधिक उपयोगी होते हैं। जिनके पेट और छाती में निर्बलता होती है, भूख कम लगती है, मल त्याग बराबर नहीं होता, कफ, जुकाम, खांसी आदि की शिकायत बनी रहती है, उन्हें पेट पर दबाव डालने वाले आसन अधिक उपयोगी होते हैं।

कौन से व्यक्ति को कौन सा आसन उपयोगी और लाभकारी होता है, उसका निर्णय करने से पूर्व, उस व्यक्ति की शारीरिक संरचना, स्वभाव, दिनचर्या, स्वास्थ्य, उम्र आदि का निरीक्षण करना आवश्यक होता है। किसी की नसें इतनी कड़ी होती है कि, वे निश्चित सीमा तक ही मुड़ सकती हैं। जबकि कुछ व्यक्तियों का शरीर इतना लचीला होता है कि उसको काफी मोड़ा जा सकता है। जिन आसनों में शरीर को अधिक मोड़ने की आवश्यकता होती है, वे लचीली शारीरिक संरचना

वाले लोगों के लिए ही उपयुक्त हो सकते हैं, परन्तु जिनकी नाड़ियें कड़ी एवं कठोर होती है, उनके लिए दूसरे आसन ज्यादा हितकर होते हैं।

कौन सा आसन हमारी शरीर संरचना और आवश्यकता के अनुकूल होता है, उसका अनुभव व्यक्ति की स्वयं की सजगता पर निर्भर करता है। आसन का प्रयोग करते समय हमें इस बात का सूक्ष्मता से ध्यान रखना चाहिये कि उस आसन का दबाव शरीर के किन–किन अंगों पर कितना–कितना पड़ता हैं। दो तीन दिन के प्रयोग के पश्चात् हानि लाभ का अनुभव होने लगता है। उसी के अनुरूप स्वयं के लिए कुछ उपयोगी आसनों का चयन करना चाहिए। अपने बारे में जितनी जानकारी स्वयं को होती हैं उतनी किसी अन्य को हो नहीं सकती।

आसन को प्रभावी बनाने वाले तथ्य

कोई भी आसन झटके से नहीं करना चाहिए। किसी भी आसन को करने के पश्चात् उसके विपरीत दिशा में शरीर पर तनाव देने वाले आसन को भी अवश्य करना चाहिए। प्रत्येक आसन के पश्चात् यथा संभव शवासन अवश्य करना चाहिए।

आसनों के लिए प्रातःकाल का समय ही सर्वश्रेष्ठ होता है। आसन करते समय शरीर पर तंग कपड़े नहीं होने चाहिये, जिससे आसन करते समय शरीर से निकलने वाली गन्दी वायु के बाहर जाने में और उसके स्थान पर नवीन स्वच्छ वायु के स्पर्श में बाधा उपस्थित होती है। आसन ऐसे स्थान पर करना चाहिये जहां वातावरण में आक्सीजन की मात्रा अधिक हो।

आसन अनेक होते है और सबकी आवश्यकता अलग–अलग होती है। अतः आसन सम्बन्धी सत्साहित्य का आलम्बन लेकर, अपने अनुकूल चंद नियमित आसनों का चयन कर लेना चाहिये। विशेष परिस्थितियों में अनुभवी योगाचार्य के निर्देशन में कठिन आसन भी सीख कर किये जा सकते हैं।

अंग व्यायाम

जिस प्रकार यदि किसी गतिशील मशीन, वाहन अथवा स्प्रिंग को काम में न लिया जाए तो उसमें जंग लगने से, भविष्य में उसका हलन–चलन प्रभावित हो सकता है। ठीक उसी प्रकार हमारे शरीर में भी ऐसी अनेक मांसपेशियाँ होती हैं जिसका हलन चलन न होने से उस पर विकार जमा होने की संभावना रहती हैं। अतः यदि उन मांसपेशियों का नियमित रूप से हलन चलन किया जाए तो उनमें विकृति आने की कम संभावना रहती है। अंग व्यायाम शरीर के प्रत्येक अंग उपांग की मांसपेशियों को जितना संभव हो आगे–पीछे, दायें–बायें, ऊपर–नीचे घुमाने, खींचने, दबाने, सिकोड़ने और फैलाने से सम्बन्धित अंग की मांसपेशियाँ सजग और सक्रिय हो जाने से, उस भाग में रक्त परिभ्रमण नियमित होने लगता है। आँख, कान, नाक, मुँह, गला और शरीर के मुख्य जोड़ों के अंग व्यायाम से वहां प्राण ऊर्जा का

प्रवाह बराबर होने लगता है। अंग व्यायाम को उस अंग की यौगिक क्रियाएं भी कहते हैं विभिन्न अंगों के अंग व्यायाम उन्हीं अंगों के स्थानीय कष्टों में विशेष लाभ पहुंचाते हैं। मसाज अथवा मर्दन भी कम गतिशील मांसपेशियों वाले शरीर के भाग में अंग व्यायाम का ही विशेष रूप होता है।

प्राणायाम

शरीर के निश्चित अवधि के लिए आत्मा के रहने योग्य बनाये रहने की क्षमात हेतु जिस तत्त्व की प्रधान भूमिका होती है, उसे प्राण कहते है तथा उसकी ऊर्जा को प्राण ऊर्जा कहते हैं प्राण के आधार पर ही मानव प्राणी कहलाता है। प्राण सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच का संबंध सूत्र होता है, जो स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर से जोड़ता है। प्राण ऊर्जा पंच महाभूत तत्त्वों (पृथ्वी, पनी, हवा, अग्नि, आकाश) के साथ मिलकर उन्हें उपयोगी बनाती है।

प्राणायाम को प्रभावी बनाने वाले त्रिबंध

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अतियोग अथवा दुरूपयोग से शारीरिक ऊर्जा का अपव्यय होता है। अतः आसन, प्राणायाम के साथ कुछ बंधों के प्रयोग से योगाभ्यास किया जाये तो उसक प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जाता हैं। बंध का अर्थ होता है। "बांधना", रोकना या कसना अथवा बंध करना। इसमें शरीर के निश्चित अंगों को बड़ी सतर्कता से संकुचित किया जाता हैं।

सामान्यतः योग में मुख्य बंध तीन होते है और चौथा इन तीनों का योग होता हैं।

1. जालन्धर बंध 2. उड्डियान बंध 3. मूल बंध 4. महा बंध

जालन्धर बंध :— ठोड़ी को कंठ कूप में स्पर्श करने से होने वाली शरीर की अवस्था को जालन्धर बंध कहते हैं। इससे गर्दन से गुजरने वाली नाड़ियां नियन्त्रित होती हैं एवं सुषुम्ना स्वर चलने लगता है। कुम्भक कर जालन्धर लगाने से कुम्भक का समय बढ़ाया जा सकता हैं। जालन्धर बंध के समय रेचक और पूरक नहीं करना चाहिये।

जालंधर बंध व्यक्ति को शारीरक, मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से लाभदायक होता हैं। इससे मानसिक शिथिलकरण होता हैं और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। रक्त चाप और श्वसन नियन्त्रित होता हैं। थायरोइड एवं पेरायायारोइड ग्रन्थियां बराबर कार्य करने लगती हैं।

उड्डियान बंध :— श्वास को बाहर निकाल कर पेट को कमर की तरफ जितना सिकोड़ सकें, बाह्य कुम्भक करने की स्थिति को उड्डियान बंध कहते हैं। यह बंध खाली पेट ही करना चाहिये। इस क्रिया से आमाशय का सम्पूर्ण भाग स्पंज की भांति निचोड़ा जाता हैं। जिससे जमा अथवा रूका हुआ रक्त पुनः प्रवाहित होने लगता

हैं। फलतः पेट के सभी अंग सक्रिय होने लगते है।

इस बंध में नाभि केन्द्र, एड्रीनल एवं पेन्क्रियाज ग्रन्थियां बराबर कार्य करने लगते है।

मूल बंधः– मल द्वारा को ऊपर की तरफ खींचकर संकुचित करने की शारीरिक स्थिति को मूल बंध कहते है। इस बंध से आंतों और प्रजनन अंगों संबंधी रोगों में लाभ होता हैं। मल–मूत्र के रोगों में भी लाभ होता है। यह भूख को बढ़ता हैं।

महाबंध :– जब तीनों बंध एक साथ किये जाते हैं, शरीर की उस अवस्था को महाबंध कहते हैं। इस हेतु पहले जालन्धर बंध के सााथ उड्डियान बंध लगाना चाहिये, उसके पश्चात मूल बंध लगाना चाहिये। श्वास को जितना स्वभाविक गति से रोक सकें, रोकना चाहिये। फिर पहले मूल बंध उसके पश्चात उड्डियान बंध और अंत में जालन्धर बंध से मुक्त होना चाहिये। उसकी अनेक आवृतियां की जा सकती है। महाबंध से तीनों बंधों का लाभ एक साथ मिल जाता हैं।

बहुत स्थानों की जलवायु विशेष स्वास्थ्यप्रद होती है। उसके कारण वहाँ प्राण तत्त्व की अधिक उपलब्धता जीवन, चैतन्य, स्फूर्ति, कार्य करने की क्षमता, सहन करने की शक्ति, मानसिक विचक्षणता आदि नाना प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती है, उसे प्राण वायु भी कह दिया जाता है।

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ होता है–प्राण का आयाम। आयाम का मतलब वृद्धि करना। प्रत्येक योनि में हमें निश्चित श्वासों के खजाने के अनुसार आयुष्य प्राप्त होती है। यदि उन श्वासों का अपव्यय न किया जाये, पूर्ण श्वास–प्रश्वास किया जाये तो उन सीमित श्वासों को लेने में हमें अधिक समय लगेगा अर्थात् हमारी आयु, जीवन अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो प्राणों की वृद्धि हो जायेगी। अतः सम्यक् प्रकार से आवश्यकतानुसार श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया को श्वासोयाम न कहकर प्राणायाम कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

योग शास्त्रों में प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। उसमें से चन्द विधियाँ जो हमारे प्रतिदिन के लिए उपयोगी है उनकी संक्षिप्त सैद्धान्तिक जानकारी ही यहां दी जा रही है। जिज्ञासु व्यक्ति अनुभवी योग प्रशिक्षक के सानिध्य में प्राणायाम की विविध पद्धतियों का अवश्य विस्तृत अध्ययन एवं अभ्यास करें, क्योंकि प्राणायाम से सरल स्वास्थ्य सुरक्षा की दूसरी स्वावलम्बी विधि प्रायः संभव नहीं होती तथा प्राणायाम के अभाव में सम्पूर्ण स्वास्थ्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्राणायाम की चार अवस्थाएँ

प्राणायाम में श्वास अन्दर खींचने की प्रक्रिया को पूरक, श्वास बाहर निकालने की क्रिया को रेचक तथा श्वास को अन्दर अथवा बाहर रोकने की अवस्था को कुम्भक कहते हैं। प्राणायाम का मूल सिद्धान्त है श्वास धीरे धीरे परन्तु जितना

गहरा लम्बा लिया जा सके लें। श्वास लेते समय पेट पूरा फूल जाना चाहिये। श्वास को जितना ज्यादा देर रोक सकें, अन्दर रोकने का प्रयास करें, ताकि श्वसन द्वारा शरीर में प्रविष्ट प्राण वायु अपना कार्य वापस बाहर निकलने के पूर्व पूर्ण कर सके अर्थात् आक्सीज़न का पूरा उपयोग हो सके। श्वास को धीरे धीरे निष्कासित करें। रेचक का समय पूरक से जितना ज्यादा होगा उतना प्राणायाम प्रभावकारी होता है। कुछ योगियों की ऐसी मान्यता है कि जितना ज्यादा श्वास को अंदर रोक कर रखा जाता है उतनी अधिक शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है, परन्तु यदि दिमाग को शांत करना हो तो श्वास को बाहर अधिक रोकने का अभ्यास करना चाहिए।

नाड़ी शुद्धि प्राणायाम

नाड़ी शुद्धि होने के बाद ही प्राणायाम श्रेष्ठ ढंग से किया जा सकता है। नाड़ी शुद्धि के लिये जो प्राणायाम किया जाता है, उसे अनुलोम विलोम प्राणायाम कहा जाता है। जन साधारण को अनुलोम विलोम प्राणायाम से ही प्राणायाम का प्रारम्भ करना चाहिये। इसमें नासाग्र के किसी एक भाग से श्वास अन्दर लेकर दूसरे छिद्र से बाहर निकाला जाता है। यह एक चक्र होता है। ऐसे अनेकों आवर्तनों का अभ्यास किया जा सकता है। श्वास जितना गहरा और दीर्घ होता है, उतना प्राणायाम अच्छा होता है। जितना कुम्भक कर सकें उतना अभ्यास करें। पूरक से रेचक का समय जितना ज्यादा रख सकें उतना अच्छा और कुम्भक का समय भी कम से कम पूरक का दुगना होना चाहिये, तभी नाड़ी शुद्धि सही ढंग से होती है।

कपाल भाति प्राणायाम

कपाल का मतलब खोपड़ी और भांति अर्थात प्रकाशित करना। इसमें शीघ्रता से पूरक और रेचक किया जाता है। कुम्भक नहीं। यह व्यायाम अत्यन्त परिश्रम पूर्वक करना चाहिये। इससे शरीर की सभी कोशिकाएँ, ज्ञान तन्तु और स्नायु जोर से कम्पित होते हैं।

कपाल भाति प्राणायाम से खोपड़ी, श्वसन तंत्र और नासिका मार्ग स्वच्छ होता है। दमा दूर होता है। बड़ी मात्रा में कार्बनडाई आक्साइड के निष्कासन से रक्त शुद्ध होता है। हृदय की कार्य क्षमता सुधरती है, श्वसन तंत्र, पाचन तंत्र और रक्त परिभ्रमण तंत्र बराबर कार्य करने लगते है।

सूर्य भेदी प्राणायाम

इसमें दाहिने नथूने से श्वास ली जाती है और बांये नथूने से श्वास निकाली जाती है। इससे शरीर में गर्मी बढ़ती है, सक्रियता आती है। सर्दी सम्बन्धी रोगों और सर्दी के मौसम में यह प्राणायाम विशेष प्रभावकारी होता है।

चन्द्र भेदी प्राणायाम

इसमें बांयें नथूने से पूरक और दाहिने नथूने से रेचक किया जाता है। गर्मी और पित्त सम्बन्धी रोगों तथा गर्मी के मौसम में यह प्राणायाम बहुत लाभकारी होता है। इससे शरीर की थकान दूर होती है। निद्रा अच्छी आती है। शरीर में शीतलता बढ़ती है, बुखार में शीघ्र आराम मिलता है।

भ्रामरी प्राणायाम

ध्यानावस्था में बैठे दोनों नेत्र बन्द कर दोनों हाथों की तर्जनी से दोनों कानों के छिद्र बन्द कर दें। होठों का आपस में मिला दें। फिर मन ही मन ओम् का गुंजार करें। दोनों नथूनों से पूरक और रेचक करने वाले ऐसे प्राणायाम को भ्रामरी प्राणायाम कहते हैं।

इस प्राणायाम से मानसिक तनाव, चिंता, क्रोध, निराशा में कमी आती है। स्वर में मधुरता बढ़ती है तथा श्वसन और गले के रोग में लाभ होता है, स्मरण शक्ति ठीक होती है।

प्राणायाम के लाभ

1. फेंफड़े मजबूत होते हैं।
2. रक्त के विकार दूर होते है।
3. शरीर का संतुलित और सुडोल विकास होता है।
4. मन में उत्साह एवं मानसिक बल भी बढ़ता है।
5. ध्यान में चित्त लगता है।
6. प्राणायाम से दीर्घ आयु प्राप्त होती है, स्मरण शक्ति बढ़ती है।
7. स्फूर्ति आती है, आलस्य नहीं आता।

प्रत्याहार

शरीर की वह अवस्था जब पाँचों इन्दियाँ शान्त हों अपने बाह्य विषयों से मुक्त होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं, प्रत्याहार कहलाती है। इस अवस्था में मन की स्वछन्दता समाप्त हो जाती है। चित्त शान्त रहने लगता है। साधक को अपनी आत्मिक शक्तियों का आभास होने लगता है।

शब्द आया, चला गया, उसके अर्थ पर ध्यान न देना। देखा, अनदेखा कर देना उस पर चिन्तन नहीं करना। जिस प्रकार पानी बर्फ बनने के पश्चात ही छलनी में टिक सकता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्याहार में पांचों इन्द्रियों के विषयों से ध्यान हटा लिया जाता है। प्रत्याहार को जैनागमों में प्रतिसंलीनता कहते है।

धारणा

शांत चित्त को शरीर के किसी स्थान पर एकाग्र करने को धारणा कहते हैं। धारणा ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था होती है।

ध्यान

धारण से चित्त वृत्ति को जिस विषय में लगाया गया हो, उसी विषय में उसे निरन्तर लगाए रखने को ध्यान कहते हैं। मन, वचन और काया की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं। चित्त विक्षेप का त्याग करना ध्यान है, एकाग्र चिन्तन ध्यान होता है। प्रत्येक इन्द्रिय पर ध्यान का अभ्यास करने से अतीन्द्रिय ज्ञान होने लगता है तथा साधक बाह्य वस्तुओं के आलंबन से उनके विषयों का आनन्द ले सकता है। अलग--अलग वर्ण गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श पर ध्यान करने से शरीर में उनके अभावों की पूर्ति होने लगती है तथा शरीर शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक रूप से संतुलित होने लगता है अर्थात् पूर्ण स्वस्थ एवं रोग मुक्त बन सकता है तथा शरीर शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक रूप से संतुलित होने लगता है अर्थात् पूर्ण स्वस्थ एवं रोग मुक्त बन सकता है। रंग चिकित्सा में शरीर में रंगों की कमी को पूरा करने की एक विधि संबंधित रंग का ध्यान कर रोगोपचार की भी होती है। इसी प्रकार शरीर में कमी वाले शब्द, गंध, रस, स्पर्श का ध्यान करने से उसकी पूर्ति की जा सकती है। ध्वनि चिकित्सा, स्वाद चिकित्सा, गंध चिकित्सा, स्पर्श चिकित्साएँ आदि इसी सिद्धान्त पर कार्य करती हैं। नासाग्र पर ध्यान करने से साधक का शक्ति केन्द्र (मूलधार चक्र), जागृत होने लगता है एवं वृत्तियों का परिष्कार होने लगता है। जैनागमों में भगवान महावीर द्वारा नासाग्र पर ध्यान करने का अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है।

ध्यान में मन के विकारों का नाश हो जाता है और सात्विक गुणों का विकास होता है। जैन आगमों में चार प्रकार के ध्यान का उल्लेख मिलता है। आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। प्रथम दो ध्यान, अशुभ एवं त्याज्या होते हैं। जिस ध्यान में अभावों के चिन्तन से चिन्ता होती है, उस ध्यान को आर्त्तध्यान तथा क्रूर चित्त द्वारा किया गया ध्यान रौद्र ध्यान की श्रेणी में आता है। अंतिम दो ध्यान धर्म ध्यान और शुक्ल शुभ होते हैं। धर्म ध्यान से ध्यानी आत्मा स्वभाव में रमण करने लगता है तथा शुक्ल ध्यान से राग एवं द्वेष को जीतने की क्षमता प्राप्त होती है। यह ध्यान आत्मा के शुद्ध स्वरूप की सहज अनुभूति कराता है। अन्तर्मुखी बनने, आत्मा से साक्षात्कार को ही ध्यान समझा जाता है। ध्यान शरीर, मन एवं मस्तिष्क को स्वस्थ रखने का अच्छा माध्यम है। ध्यान से आभा मण्डल शुद्ध होता है, हानिकारक तरंगें दूर होती हैं। ध्यान की साधना शांत, एकान्त, स्वच्छ एवं निश्चित स्थान पर निश्चित समय करने से ज्यादा लाभ होता है। ध्यान के लिए मौन आवश्यक होता है। पहले शरीर की स्थिरता, फिर दृढ़ता और धैर्य बिना, ध्यान संभव नहीं हो सकता।

हास्य चिकित्सा
खूब हँसिए, स्वस्थ रहिए

शरीर में विजातीय तत्वों को निःश्वास के साथ विसर्जित करने का सरलतम उपाय है हास्य योग अर्थात् खुलकर हँसना। मुस्कराना। प्रसन्नचित रहना।

श्वसन के विभिन्न व्यायामों में हास्य सरलतम नैसर्गिक क्रिया है, जो हमारी आन्तरिक प्रसन्नता को प्रकट करती है। जो नित्य मुस्कराता रहता है, उसके तनाव, भय, निराशा, चिन्ता, नकारात्मक सोच, क्रोध, घृणा आदि कारण स्वतः दूर होने लगते हैं। मुख मण्डल आभा से भर जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है, उसमें मिलनसारिता की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है, जिससे उसके सम्पर्क में आने वाले प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। मुस्कान न केवल एक जीवन्त प्रक्रिया है, उससे भी कहीं अधिक एक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक घटना भी है, जिससे दो व्यक्तियों के बीच शुभ संवाद आरम्भ होने में सुविधा मिलती है। जब दो परिचित मिलते हैं तो दूर से दिखते ही चेहरे पर मुस्कान आ जाती है। अतिथियों का मुस्कराते हुए ही स्वागत किया जाता है। अर्थात् मुस्कान हमारे जीवन में आनन्द, सुःख, प्रसन्नता की, सूचक होती है। मुस्कान की उपमा खिलते हुए कमल के फूल से की जा सकती है। जिस प्रकार खिला हुआ कमल का पुष्प अच्छा लगता है, ठीक उसी प्रकार मुस्कान से व्यक्ति को सुख की अनुभूति होती है। जिसके चेहरे की मुस्कुराहट चली जाती है, उसके जीवन की प्रसन्नता चली जाती है। जिसके चहरे पर ज्यादा मुस्कान रहती है, उतना अधिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है। मुस्कराना प्रकृति की मानव को अनुपम देन है। जो उसको स्वस्थ, सुखी प्रसन्नचित रखने का उसके, स्वंयं के हाथ में सहज, सरल, सस्ता, प्रभावशाली उपाय है। जिसमें किसी भी प्रकार के दुष्प्रभाव की संभावना नहीं होती। जितना अधिक व्यक्ति आन्तरिक मुस्कराहट से ओतप्रोत रहता है, उतनी ही उसकी सहनशीलता बढ़ती जाती है, चिन्तन सकारात्मक होने लगता है, जो मानव जीवन की सफलता एवं

उद्देश्य प्राप्ति का मूलाधार होती है। सकारात्मक भाव पैदा होते हैं, जिससे शरीर के लिए उपयोगी रसायन पैदा होने लगते हैं। कार्य क्षमता बढ़ जाती है। अशान्ति की आग में आकुल–व्याकुल व्यक्ति के लिए हास्य एक वरदान होता है।

जब मुस्कान हँसी में बदल जातीं है तो स्वास्थ्य वर्धक औषधि का कार्य करने लगती है। मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी है, जिसमें हंसने की क्षमता होती है। यह उसका स्वभाव भी है तथा उसके खुशी की अभिव्यक्ति का माध्यम भी। किसी बात पर मुसकराना अथवा हँसना, किसी को देख कर हँसना, कुछ व्यंग सुनकर हँसना, कुछ पढ़कर हँसना, किसी को हँसते हुए देख कर हँसना किसी से मुस्कराते हुए मिलना, खुशी के प्रसंगों पर मुस्कराना मानव व्यवहार की सहज क्रियाएँ हैं। सच्चा हास्य तोप के गोले की तरह छूटता है और मायूसी की चट्टान को बिखेर देता है। हास्य से रोम–रोम पुलकित होते हैं, दुःखों का विस्मरण होता है, खून में नयी चेतना आती हैं। शरीर में कुछ भाग हास्य ग्रन्थियों के प्रति विशेष संवेदनशील होते हैं। जैसे पगथली, काख, गला आदि। अतः यदि किसी तनाव ग्रस्त, भय ग्रस्त अथवा मानसिक दुःखों से ग्रस्त व्यक्ति के उन संवेदनशील भागों पर आवश्यक सिरहन किया जाए तो अनचाहे हँसी आने लगती है। परिणामवस्वरूप तनाव, भय, चिन्ताओं के विकार शरीर से विसर्जित हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति खुशी का अनुभव करने लग जाता है। हंसी मानसिक रोगों के उपचार का प्रभावशाली माध्यम होता है।

हंसी से शरीर में वेग के साथ आक्सीजन का अधिक संचार होने से मांसपेशियाँ सशक्त होती हैं। जंमे हुए विजातीय अनुपयोगी, अनावश्यक तत्त्व अपना स्थान छोड़ने लगते हैं, जिससे विशेष रूप से फेंफड़े और हृदय की कार्य क्षमता बढ़ती है। अवरोध समाप्त होने से रक्त का प्रवाह संतुलित होने लगता है। शरीर स्वस्थ एवं बलिष्ठ होने लगता है। हँसी से शरीर में ताजगी आती है। अच्छी स्वाभाविक निद्रा आती है। बुखार दूर हो जाता है। दर्द और पीड़ा में राहत मिलती है। वास्तव में हँसी सभी प्रकार के रोगों में प्रायः लाभकारी होती है। हृदय रोगियों का हास्य सरलतम प्रभावशाली उपचार है।

दुःखी चिन्तित, तनाव ग्रस्त, भयभीत, निराश, क्रोधी आदि हँस नहीं सकते और यदि किसी भी कारण से हँसी आती है तो उस समय तनाव, चिंता, भय, दुःख, क्रोध आदि रह नहीं सकते, क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरोधी स्वभाव के होते हैं। अतः यदि हम काल्पनिक हँसी भी हँसेंगे तो तनाव, चिंता, भय, निराशा आदि स्वतः भूल जाते हैं। ये ही वे कारण होते हैं जो व्यक्ति को अस्वस्थ, असंतुलित, रोगी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हंसने से शरीर के आन्तरिक भागों की सहज मालिश हो जाती है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ और ऊर्जा चक्र सजग और क्रियाशील होने लगते हैं। जिससे रोग प्रतीकारात्मक क्षमता बढ़ती है। मन में सकारात्मक चिन्तन, मनन होने लगता है। शुभ विचारों का प्रादुर्भाव होता है। नकारात्मक भावनाएँ समाप्त होने

लगती हैं। आज के तनाव युक्त वातावरण से मुक्त होने के हास्य–योग सरलतम, स्वयं के पास, सभी समय उपलब्ध, सहज, सस्ता साधन है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि हँसने के लिए व्यक्ति बाह्य आलम्बनों पर निर्भर रहता है। जो हमारे पास सदैव उपस्थित नहीं होते। चुटकलों के सहारे हम 365 दिन नहीं हँस सकते, क्योंकि नित्य नवीन ज्ञानवर्धक प्रभावशाली चुटकले भी पढ़ने को नहीं मिलते और न ऐसे व्यक्तियों का नियमित सम्पर्क होता है, जो दूसरों को हँसाने में दक्ष होते हैं। आज के सभ्य समाज में अकारणी हँसने वालों की तुलना पागलों अथवा मूर्खों से की जाती है। बिना बात हँसना बहुत कठिन होता है। सबसे बड़ी समस्या अकारण हँसने से लज्जा आती है। अतः व्यक्ति हास्य के लाभ को जानते, मानते हुए भी हँसने का साहस नहीं जुटा पाता। परिणामस्वरूप उसे रोग होने की संभावनाएँ बढ़ती है तथा बीमार होने पर चिकित्सकों की प्रयोगशाला बनने हेतु मजबूर होना पड़ता है। इसी कारण आज सारे विश्व में हास्य योग संगठन बनते जा रहे हैं। जो प्रातःकाल खुले मैदानों अथवा बगीचों में नियमित एकत्रित होकर सामूहिक रूप से कृत्रिम ढंग से हँसते हैं, हँसाते हैं। हम प्रायः अनुभव करते हैं कि साधारण परिस्थितियों में कभी–कभी सामने वाले को हँसते हुए देख अकारण ही हँसी स्वतः आने लगती हैं। इसका छूआछूत के रोग की भांति आपस में फैलाव अथवा प्रसार होने लगता है, जिससे समूह में हँसी का सहज माहौल हो जाता है। आजकल समूह में भी हँसने की भी विभिन्न विधियाँ मानव ने विकसित कर ली है।

जो व्यक्ति अट्टहास करने का साहस न जुटा सकें, वे होठ बन्द कर मन ही मन तीव्र गति से हँसने का प्रयास करें। जिससे हास्य योग का लाभ मिल जाता है। कोई भी प्रवृत्ति का सर्वमान्य स्पष्ट मापदण्ड नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को स्वविवेक और सवयं की क्षमताओं तथा हँसने से होने वाली प्रतिक्रियाओं का सजगता पूर्वक ध्यान रख अपने लिए उपयुक्त और आवश्यक विधियों का चयन करना चाहिए, न कि देखा देखी, सुनी सुनायी, पद्धति के आधार पर किसी के उपहास या मजाक के रूप में हँसना। किसी की असफलता या नुकसान पर हँसना क्रूर हास्य है। अतः ऐसे हास्य का निषेध है। दूसरों को देख हँसना, कभी–कभी कलह अथवा द्वेष के कारण, कषाय वृद्धि का हेतु बन सकती है। परन्तु अकेले में एकान्त में होठ बन्द कर शान्त हँसी कषाय वृद्धि का कारण भी नहीं होती है। पाँच मिनट हँसने से शरीर को 1 से 2 किलोमीटर प्रातःकाल घूमने जितनी ऊर्जा मिलती है। प्रदूषण रहित स्वच्छ एवं खुले प्राण वायु वाले वातावरण में, प्रातःकाल उदित सूर्य के सामने, हास्य व्यायाम अधिक प्रभावशाली होता है, क्योंकि हास्य लाभ के साथ–साथ सौर ऊर्जा की भी सहज प्राप्ति हो जाती है।

चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति

विभिन्न क्षेत्रों में चुम्बक के प्रयोग

आज विश्व भर में चुम्बकीय ऊर्जा का उपयोग सभी क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। कृषि में चुम्बकीय ऊर्जा से प्रभावित पानी का उपयोग करने से अन्य सभी परिस्थितियाँ एक होने के बावजूद उत्पादन 10 से 15 प्रतिशत बढ़ जाता है। निर्माण कार्यों में ऐसे पानी एवं पदार्थों के प्रयोग से निर्माण में काम आने वाली सीमेन्ट, चूना जैसे पदार्थों की ताकत 15 से 20 प्रतिशत बढ़ जाती है। शल्य चिकित्सा के पश्चात् चुम्बकीय ऊर्जा के उपयोग से शरीर की हीलिंग क्षमता बढ़ जाती है। अतः बहुत से देशों में शल्य चिकित्सा के पश्चात् जो रूई, पट्टियें आदि लगाई जाती हैं, वे चुम्बकीय ऊर्जा से ऊर्जित होती हैं, ताकि घाव जल्दी भर सकें।

वैज्ञानिकों का ऐसा निष्कर्ष है कि चुम्बक का थोड़ा या ज्यादा प्रभाव प्रायः सभी पदार्थों पर पड़ता है। चुम्बक की विशेषता है कि वह किसी भी अवरोधक को पार कर अपना प्रभाव छोड़ने की क्षमता रखता है। जिस प्रकार बेटरी चार्ज करने के पश्चात् पुनः उपयोगी बन जाती है, उसी प्रकार शारीरिक चुम्बकीय प्रभाव को चुम्बकों द्वारा संतुलित एवम् नियन्त्रित किया जा सकता है। चुम्बक का प्रभाव हड्डी जैसे कठोरतम भाग को पार कर सकता है, अतः हड्डी सम्बन्धी दर्द निवारक में चुम्बकीय चिकित्सा रामबाण के तुल्य सिद्ध होती है।

चुम्बकीय चिकित्सा की विशेषता

चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति पूर्णतया वैज्ञानिक एवम् प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। यह सहज, सरल, पीड़ा रहित, पूर्ण अहिंसक, दुष्प्रभावों से रहित और सस्ती है। इसके उपचार हेतु शरीर विज्ञान की विशेष जानकारी आवश्यक नहीं। अन्य चिकित्सा पद्धतियों द्वारा उपचार करने के साथ भी इसको अपनाया जा सकता है। रोगी स्वयं घर बैठे बैठे अपना उपचार कर सकता है, न ज्यादा स्थान चाहिये, न बड़े बड़े खर्चीले अस्पताल अथवा रासायनिक प्रयोगशालायें। स्थायी चुम्बक से अनेक व्यक्तियों का अनेक वर्षों तक उपचार किया जा सकता है। तथा प्रभाव कम

होने पर उन चुम्बकों को बैटरी की भांति पुनः चार्ज किया जा सकता हैं। चुम्बक को गिराने, धूप या अग्नि के पास रखने से चुम्बकीय क्षमता क्षीण भी हो जाती है।

चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति में किसी भी प्रकार के टी के, दवाई मालिश अथवा गहरे दबाव की आवश्यकता नहीं होती। केवल रोग के अनुसार चुम्बकों को पगथली, हथेली और रोगग्रस्त स्थान पर थोड़े समय के लिये स्पर्श करना पड़ता है। पथ्य का उतना परहेज नहीं रखना पड़ता, जितना अन्य चिकित्सा पद्धतियों में आवश्यक होता है। रोग मुक्त होने के पश्चात् चुम्बकों का उपयोग छोड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती। जैसा कि आजकल चन्द रोगों में दवाई जीवन का आवश्यक अंग बन जाती है। यह पद्धति सभी रोगों के उपचार तथा बचाव दोनों में सक्षम होती है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में तो इस पद्धति से शीघ्र लाभ पहुंचता ही है, परन्तु अनेक असाध्य रोगों में भी इससे राहत मिलती है। चुम्बक शरीर से पीड़ा दूर करने में बहुत प्रभावशाली है। घावों को शीघ्र भरता है। रक्त संचार ठीक करता है एव हड्डियों को जोड़ने में मदद करता है।

चुम्बकीय चिकित्सा के अनुभूत प्रयोग

लेखक के सन् 1990 में ट्रक से दुर्घटनाग्रस्त होने पर कान के नीचे की हड्डी एवं टोढ़ी का फ्रेक्चर हो गया। अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध चिकित्सक माननीय श्री एस के दीवान द्वारा शल्य चिकित्सा की गई। शल्य चिकित्सा के कारण पूरे जबाड़े पर छब्बीस टांके लगें। तीन दिन पश्चात् अस्पताल से छुट्टी मिलने के पश्चात लेखक ने बिना किसी दवा मात्र चुम्बक द्वारा स्वयं का उपचार परिजनों, मित्रों, चिकित्सकों के न चाहते हुये भी किया। चुम्बकीय ऊर्जा के सिद्धान्तों की सत्यता एवं चमत्कारी प्रभाव पर आत्म विश्वास होने के कारण, आधे से कम समय में स्वयं का उपचार सफलता पूर्वक करने में सफल रहा। इसी कारण लेखक की वैकल्पिक चिकित्साओं की प्रभावशालीता के प्रति आस्था दृढ़ हुई।

दो अप्रैल 1991 को पुनः लेखक के दाहिने पैर की हीप्स बोन पर स्कूटर दुर्घटना से पुनः दो इंच की दरार पड़ गई तथा उन्हें भयंकर वेदना होने लगी। चिकित्सकों ने कम से कम 21 दिन बिना हिले डुले आराम करने का परामर्श दिया। परन्तु चुम्बकों के निरन्तर प्रयोग से उनकी पीड़ा तुरन्त शान्त होने लगी। परिणाम स्वरूप लेखक का आत्म विश्वास एवं मनोबल दृढ़ हुआ। परिणाम स्वरूप बिना किसी दर्दनाशक दवा के प्रयोग मात्र 4–5 दिनों के चुम्बकीय उपचार से अपना नियमित कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। जीवन की इन दोनों घटनाओं के कारण ही अपने इंजीनियरिंग व्यवसाय से निवृत्त हो, लेखक ने वैकल्पिक चिकित्साओं के प्रति सजगता पैदा करने का मानस बनाया।

चुम्बकीय उपचार का सिद्धान्त एवं विशेषतायें

शरीर मूल रूप से एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र होता है। शरीर की प्रत्येक कोशिका (सेल) विद्युत की एक इकाई है और उसका अपना क्षेत्र होता है। विद्युत के समान सबसे अधिक शक्तिशाली चुम्बकत्व मस्तिष्क में पैदा होता है और वह भी जब व्यक्ति निद्रा में होता है। ये चुम्बकीय क्षेत्र शरीर एवं मन में परिवर्तनों के अनुसार घटते बढ़ते रहते हैं। चुम्बकीय चिकत्सा का मूल मन्त्र यह है कि शरीर में चुम्बकीय क्षेत्रों का संतुलन बनाये रखा जाये। चुम्बकीय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक चुम्बक में प्रायः दो ध्रुव होते हैं, एक को उत्तरी ध्रुव व दुसरे को दक्षिणी ध्रुव कहते हैं। सारे आलेख में जहाँ उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की चर्चा की गयी है, वहाँ उपचार हेतु कार्य में लिए जाने वाले चुम्बको के ध्रुवों को ही समझना चाहिए, न कि भौगोलिक उत्तरी और दाक्षिणी ध्रुव। छड़ी वाले चुम्बक को धागे से बांध सीधा लटकने पर जो किनारा भौगोलिक उत्तरी की तरफ स्थिर होता है, यानि जो पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की तरफ आकर्षित होता है, चुम्बकीय चिकित्सा में उस ध्रुव का दक्षिणी ध्रुव कहते हैं। बहुत से चुम्बक उत्पादक उस पर (True South Pole) यानी सही दक्षिणी ध्रुव लिखते हैं तथा दूसरा किनारा उससे विपरीत यानी उत्तरी ध्रुव (True North Pole) होता है। दो चुम्बकों के विपरीत ध्रुवों में आकर्षण होता है तथा समान ध्रुव एक दूसरे को दूर फैंकते हैं। दक्षिणी ध्रुव का प्रभाव गर्मी बढ़ाना, फैलाना, उत्तेजित करना, सक्रियता बढ़ाना होता है, जबकि उत्तरी ध्रुव का प्रभाव इसके विपरीत शरीर में गर्मी कम करना, अंग सिकोड़ना, शांत करना, सक्रियता को नियन्त्रित एवम् सन्तुलित करना आदि होता है। चुम्बकीय ऊर्जा के माँप की इकाई गौस अथवा ओरस्टेड के नाम से जानी जाती है। जितना ज्यादा शक्तिशाली चुम्बक होता है, उतना ही अधिक चुम्बकीय धातुओं के प्रति उसका आकर्षण होता है। छोटे बच्चों को कम शक्तिवाले चुम्बक लगाना चाहिये। अन्य व्यक्तियों के चेहरे तथा हृदय जैसे कोमल भाग पर प्रायः कम शक्तिवाले चुम्बक लगाने चाहिये। परन्तु असाध्य एवम् भयंकर रोगों में ज्यादा शक्ति वाले चुम्बकों का प्रयोग अनुभवी चिकित्सकों के मार्ग निर्देशन में किया जा सकता है।

चुम्बकीय उपचार की मुख्य तीन विधियाँ

हमारे शरीर के चारों तरफ चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र होता है। जिसे आभा मण्डल भी कहते हैं। प्रायः दाहिने हाथ से हम अधिक कार्य करते हैं। अतः दाहिने भाग में दक्षिणी ध्रुव के गुण वाली ऊर्जा तथा बाये भाग में उत्तरी ध्रुव के गुण वाली ऊर्जा का प्रायः अधिक प्रभाव होता है। अतः चुम्बकीय ऊर्जा के संतुलन होने हेतु बायीं तरफ दक्षिणी ध्रुव एवं दाहिनी तरफ चुम्बक के उत्तरी ध्रुव का स्पर्श करने से बहुत लाभ होता है। शरीर के चुम्बक का, उपचार वाले उपकरण चुम्बक से आकर्षण होने लगता है और शरीर में चुम्बकीय ऊर्जा का संतुलन होने लगता है। परन्तु यह

सिद्धान्त सदैव सभी परिस्थितियों में विशेषकर रोगावस्था में लागू हो आवश्यक नहीं? अतः स्थानीय रोगों में चुम्बकीय गुणों की आवश्यकतानुसार चुम्बकों का स्पर्श भी करना पड़ सकता है। फिर भी चुम्बकीय उपचार की निम्न तीन मुख्य विधियां होती है।

1. रोगग्रस्त अंग पर आवश्यकतानुसार चुम्बक का स्पर्श करने से, चुम्बकीय ऊर्जा उस क्षेत्र में संतुलित की जा सकती है। स्थायी रोगों, दर्द आदि में इससे काफी राहत मिलती हैं।

2. एक्युप्रेशर की रिफलेक्सोलोजी के सिद्धानतानुसार शरीर की सभी नाड़ियों के अंतिम सिरे दोनों हथेली एवम् दोंनों पगथली के आसपास होते हैं। इन क्षेत्रों को चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र में रखने से वहां पर जमे विजातीय पदार्थ दूर हो जाते हैं तथा रक्त एवम् प्राण ऊर्जा का शरीर में प्रवाह संतुलित होने लगता है, जिससे रोग दूर हो जाते हैं। इस विधि के अनुसार दोनों हथेली एवम् दोनों पगथली के नीचे कुछ समय के लिये चुम्बक को स्पर्श कराया जाता है। दाहिनी हथेली एवम् पगथली के नीचे सक्रियता को संतुलित करने वाला उत्तरी ध्रुव तथा बायीं पगथली एवम् हथेली के नीचे शरीर में सक्रियता बढ़ाने वाला दक्षिणी ध्रुव लगाना चाहिये।

3. चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र में किसी पदार्थ अथवा द्रव्य, तरल पदार्थों को रखने से उसमें चुम्बकीय गुण प्रकट होने लगते हैं, जैसेः– जल, दूध, तेल आदि तरल पदार्थों में चुम्बकीय ऊर्जा का प्रभाव बढ़ाकर उपयोग करने से काफी लाभ पहुंचता है।

चुम्बकीय जल का उपयोग

चुम्बक के प्रभाव को पानी, दूध, तेल एवं अन्य द्रवों में डाला जा सकता है। शक्तिशाली चुम्बकों पर ऐसे द्रव रखने से थोड़े समय में ही उनमें चुम्बकीय गुण आने लगते हैं। जितनी देर उसको चुम्बकी प्रभाव में रखा जाता है, चुम्बक हटाने के पश्चात् लगभग उतने लम्बे समय तक उसमें चुम्बकीय प्रभाव रहता है। प्रारम्भ के 10–15 मिनटों में ही 60 से 70 प्रतिशत चुम्बकीय प्रभाव आ जाता है। चुम्बकीय जल बनाने के लिये पानी को स्वच्छ कांच की गिलास अथवा बोतलों में भर लकड़ी के पट्टे पर शक्तिशाली चुम्बकों के ऊपर रख दिया जाता है। 8–10 घंटे चुम्बकीय क्षेत्र में रहने से उस पानी में चुम्बकीय गुण आ जाते हैं। उत्तरी ध्रुव के सम्पर्क वाला उत्तरी ध्रुव का पानी तथा दक्षिणी ध्रुव के सम्पर्क वाला दक्षिणी ध्रुव के गुणों वाला पानी बन जाता है। दोनों के संपर्क में रखने से जो पानी बनता हैं उसमें दोनों ध्रुवों के xqkvkt krsg rlesd scr ea(S Pole) (दक्षिणी ध्रुव) तथा चांदी के बर्तन में उत्तरी ध्रुव (N Pole) द्वारा ऊर्जा प्राप्त पानी अधिक प्रभावशाली एवं गुणकारी होता है।

चुम्बकीय जल की मात्रा का सेवन रोग एवं रोगी की स्थिति के अनुसार किया जाता है। स्वस्थ व्यक्ति भी यदि चुम्बकीय जल का नियमित सेवन करे तो, शरीर की रोग निरोधक क्षमता बढ़ जाती है। रोग की अवस्थानुसार चुम्बकीय जल

का प्रयोग प्रतिदिन 2–3 बार किया जा सकता है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि चुम्बकीय प्रभाव से पानी दवाई बन जाता है। अतः उसको सादे पानी की तरह आवश्यकता से अधिक मात्रा में नहीं पीना चाहिये।

चुम्बक के अन्य उपचारों के साथ आवश्यकतानुसार चुम्बकीय पानी पीने से उपचार की प्रभावशीलता बढ़ जाती है। अतः चुम्बकीय उपचार से आधा घंटे पूर्व शरीर की आवश्यकतानुसार चुम्बकीय पानी अवश्य पीना चाहिये।

चुम्बकीय जल की भांति दूध को भी चन्द मिनट तक चुम्बकीय प्रभाव वाले क्षेत्र में रखा जाये तो, वह शक्तिवर्द्धक बन जाता है। इसी प्रकार किसी भी तेल को 45 से 60 दिन चुम्बकीय क्षेत्र में लगातार रखने से उसकी ताकत बढ़ जाती है। ऐसा तेल बालों में इस्तेमाल करने से बालों सम्बन्धी रोग जैसे गंजापन, समय से पूर्व सफेद होना ठीक होते हैं। चुम्बकीय तेल की मालिश भी साधारण तेल से ज्यादा प्रभावकारी होती है। जितने लम्बे समय तक तेल को चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र में रखा जाता है, उतनी लम्बी अवधि तक उसमें चुम्बकीय गुण रहते हैं। थोड़े थोड़े समय पश्चात् पुनः थोड़े समय के लिये चुम्बकीय क्षेत्र में ऐसा तेल रखने से उसकी शक्ति पुनः बढायी जा सकती है। जोड़ों के दर्द में ऐसे तेल की मालिश अत्याधिक लाभप्रद होती है। दक्षिणी ध्रुव से प्रभावित दूध विकसित होते हुए बच्चों के लिये बहुत लाभप्रद होता है। दोनों ध्रुवों से प्रभावित दूध शक्तिवर्धक होता है। दोनों ध्रुवों से प्रभावित तेल बालों की सभी विसंगतियां दूर करता है।

सिर पर लगाने अथवा मानसिक रोगों के लिये चुम्बकीय ऊर्जा से ऊर्जित नारियल का तेल तथा जोड़ों के दर्द हेतु सूर्यमुखी, सरसों अथवा तिल्ली का चुम्बकीय तेल अधिकारी गुणकारी होता है।

चुम्बकीय चिकित्सा के प्रभावशाली प्रयोग

चुम्बकीय चिकित्सा सामान्यतंया लगभग 10 से 15 मिनट एक स्थान पर करनी चाहिये, परन्तु पुराने एवम् असाध्य रोगों में चिकित्सकों के परामर्श एवम् मार्ग–निर्देशन में समय परिस्थितियों एवं रोगी की अवस्था के अनुरूप निश्चित की जाती है। सामान्यता चुम्बक चिकित्सा करते समय रोग में वृद्धि नहीं होती, परन्तु प्रारम्भ में यदि पीड़ा कुछ बढ़ जावे तो, उसका कारण यह हो सकता है कि, चुम्बक पीड़ा को दूर करने के लिये, विकारों को शरीर से बाहर निकाल रहा है। पीड़ा पुनः थोडे समय पश्चात स्वतः कम हो जाती है और उसको घटाने के लिये किसी अलग उपचार की आवश्यकता नहीं होती। चुम्बकीय उपचार करते समय इस बात का ध्यान रहे कि, रोगी को सिर में भारीपन न लगे, चक्कर आदि न आवे। ऐसी स्थिति में तुरन्त चुम्बक हटाकर धरती पर नंगे पैर घूमना चाहिये अथवा एल्यूमिनियम या जस्ते पर खड़े रहने अथवा स्पर्श करने से शरीर में सें चुम्बक चिकित्सा द्वारा किया

गया अतिरिक्त चुम्बकीय प्रभाव कम हो जाता है। रक्त के अधिक दबाव वाले रोगियों को चुम्बक चिकित्सा का समय धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये। दाहिनी हथेली के नीचे और गले के दाहिने भाग में धड़कन वाले स्थान पर उत्तरी ध्रुव स्पर्श करने से उच्च रक्तचाप तुरन्त कम होने लगता है। यदि इस चुम्बक को किसी तेज गति वाले वाईक्रेब्रटेर में लगाकर उपचार किया जाये तो चन्द मिनटों में उच्च रक्त चाप साध ारण हो जाता है। यदि नीचे वाला रक्तचाप भी ज्याद हो तो उपचार दोनों हथेलियों के नीचे तथा गले में धड़कन वाले भाग पर दोनों तरफ उपचार करने से चमत्कारी लाभ होता है। इसी प्रकार निम्न रक्त चाप को बायें हथेली के नीचे व गले के बायीं तरफ चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव स्पर्श करने से रक्तचाप बढ़ने लगता है।

पैन्क्रियाज पर चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव लगाने से पैन्क्रियाज सक्रिय हो जाता है और मधुमेह के रोगियों को दवा और इंजेक्शन के माध्यम से इंसुलिन की आवश्यकता कम की जा सकती है। चुम्बक अत्यधिक प्रभावशाली दर्दनाशक होता है। दर्द वाले भाग पर जब तक सिर में भारीपन न हो उत्तरी ध्रुव को स्पर्श करते हुये Anti Clocktwise घुमाने से तुरन्त लाभ मिलता है। चुम्बक का स्पर्श करने से शरीर की हीलिंग क्षमता बहुत बढ़ जाती है। फ्रेक्चर में हड्डियों को बराबर जोड़ने के पश्चात् नियमित दक्षिणी ध्रुव के सम्पर्क में रखा जाये, तो हड्डियों के जुड़ने के समय में बहुत कमी हो जाती है। शरीर के कमजोर अंग–उपांगों पर दक्षिणी ध्रुव को स्पर्श करने से उन अंगों की कार्य क्षमता बढ़ने लगती है।

नाभि एवं उसके नीचे के चक्रों पर अधिक क्षमता वाले तथा उससे ऊपर के चक्रों पर कम क्षमता वाले चुम्बक का प्रयोग करना चाहिये, परन्तु अनुभवी चुम्बकीय चिकित्सकों के निर्देशन में असाध्य रोगों में, अधिक क्षमता वाले चुम्बकों का उपयोग भी किया जा सकता है। जलन अथवा खुजली वाले स्थान पर चुम्बक का उत्तरी ध्रुव फेरने से शीघ्र आराम मिलता है। हाथ और पैर संबंधी रोगों में ह्दय की दिशा में चुम्बक का आवश्यकतानुसार मसाज करने से रक्त में आया अवरोध दूर होने से उपचार अधिक सक्रिय हो जाता है। जैसे साईटिका के रोगियों को उत्तरी ध्रुव का मसाज करना चाहिए जबकि लकवे (पक्षाघात) के रोगी को दक्षिणी ध्रुव का मसाज करना चाहिये।

यदि शरीर के किसी भाग में गांठ हो गई हो तो, वहां पलसेटिंग चुम्बक या स्थायी चुम्बक का उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव को बारी बारी से स्पर्श द्वारा उपचार करने से गांठ का फैलाव और संकोचन होने लगता हैं और धीरे धीरे वह गांठ बिखर जाती है।

मेरूदण्ड के उपचार हेतु मेरूदण्ड पर नीचे की तरफ चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव तथा ऊपर उत्तरी ध्रुव लगाना चाहिए। दक्षिणी ध्रुव पर सीधी कमर बैठने से मूलाध ार चक्र सक्रिय होता है। मल द्वार की मासंपेशियां सक्रिय होती है और कब्ज दूर होती है।

सूर्य किरण चिकित्सा

यदि सौर ऊर्जा का नियमित विधिवत आवश्यकतानुसार प्रयोग कर मस्तिष्क को सौर ऊर्जा से उत्प्रेरित कर दिया जाये तो मानव जीवन की अधिकांश समस्याओं का समाधान सहज हो सकता है और हमारे जीवन में सकारात्मक सोच, आत्म विश्वास में वृद्धि तनाव एवं भय से मुक्ति हो जाती है। भूख एवं अन्य कामनाओं पर सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है।

प्रातः कालीन उदित सूर्य दर्शन से लाभ

सूर्योदय के समय वायुमण्डल में अदृश्य परा बैगनी किरणों (Ultra Violet Rays) का विशेष प्रभाव होता है, जो विटामीन डी का सर्वोत्तम स्रोत होती है। ये किरणें रक्त में लाल और श्वेत कणों की वृद्धि करती है। श्वेत कण बढने से शरीर में रोग प्रतिकारात्मक शक्ति बढ़ने लगती है। परा बैंगनी किरणें तपेदिक, हिष्टिरिया, मधु मेह और महिलाओं के मासिक धर्म संबंधी रोगों में बहुत लाभकारी होती हैं। ये शरीर में विकारनाशक शक्ति पैदा करती हैं तथा रक्त में कैलशियम की मात्रा भी बढ़ाती हैं, जिससे शरीर में हड्डियाँ मजबूत होती हैं। आंतों में अम्ल–क्षार का संतुलन एवं शरीर में फासफोरस–कैलशियम का संतुलन बना रहता है।

जिन स्थानों के वायु मण्डल में धूल, धुँआ, प्रदूषण, पर्यावरण आद्रता, कुहरा अथवा बादलों के छाये रहने से सूर्य की किरणें पृथ्वी पर नहीं पहुँच पाती, वहां के निवासी प्रायः अधिक रोगी होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण औद्योगिक शहर होते हैं। इसके विपरीत ग्रामीण खुले स्थानों पर लोग अधिक स्वस्थ रहते हैं।

सूर्य किरणों का स्वास्थ्य वर्धक प्रभाव

सूर्य की गर्मी से वायु संचार होकर प्राकृतिक शुद्धि होती है। सूर्य किरणे गंदगी और दुर्गन्धता दूर करती हैं। जहाँ सूर्य प्रकाश का अभाव होता है, वहीं डाक्टर की आवश्यकता होती है। वास्तव में सूर्य के अभाव में स्वस्थ जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। रात्रि में सभी रोग अपेक्षाकृत अधिक परेशान करते हैं। अतः सूर्य का प्रकाश ही जीवन है और अन्धकालू ही मृत्यु। प्रातःकालीन सूर्योदय की

किरणे विशेष स्वास्थ्य वर्धक होती है। जिस घर में उन किरणों का बाहुल्य होता है, वहां संक्रामक रोग होने की संभावनाएं कम हो जाती है। प्रातःकालीन सूर्योदय के सामने चन्द मिनटों तक देखने से नेत्र ज्योति बढ़ती है, परन्तु सूर्योदय के 40–45 मिनट पश्चात सूर्य को खुले नेत्रों से देखना हानिप्रद हो सकता है। उदित होते हुये सूर्य दर्शन से शरीर के सभी आवश्यक तत्त्वों का पोषण होता है। हृदय रोग, मस्तिष्क विकार, आंखों के विकार आदि अनेक व्याधियां दूर होती हैं।

सूर्य किरणें जीवनी शक्ति बढ़ाती है, स्नायु दुर्बलता कम करती है, पाचन और मल निष्कासन की क्रियाओं को बल देती है, पेट की जठराग्नि प्रदीप्त करती है, रक्त परिभ्रमण संतुलित रखती है, हड्डियों को मजबूत बनाती है। रक्त में कैलशियम फासफोरस और लोहे की मात्रा बढ़ाती है, अन्तःश्रावी ग्रन्थियों के श्राव बनाने में सहयोग करती है।

सूर्य किरणों में विभिन्न रंग

सूर्य की किरणों में सात दृश्यमान एवं दो अदृश्यमान रंगों की किरणें होती है। दृश्यमान सात रंग निश्चित क्रम से होते हैं, जिन्हें इन्द्र धनुष के समय अथवा विशेष प्रयोंगों द्वारा आसानी से देखा जा सकता है। विभिन्न रंगों का मानव के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक रंग के अपने विशेष स्वास्थ्यवर्धक गुण होते हैं। सूर्य की किरणों से होने वाले सात रंग बैंगनी ,नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी, लाल के क्रम से होते हैं।

पहले तीन् रंग शरीर में गर्मी को नियंत्रित करने तथा कष्ट में शांति पहुंचाने में सहायक होते हैं। ये रंग शरीर के अवयवों में रासायनिक परिवर्तन करने में अहं भूमिका निभाते हैं। अतः सूर्य की इन तीन रंग की किरणों तथा पराबैंगनी किरणों को रसायनिक किरणें भी कहते हैं। मध्य वाला हरा रंग गर्मी एवं सर्दी के प्रभाव को संतुलित रखने में सक्षम होता है। अन्तिम तीन रंग शरीर में गर्मी पहुंचाने वाले होते हैं। वर्तमान में सूर्य किरण चिकित्सा में सात रंगों के स्थान पर प्रत्येक समूह में से एक रंग का ही उपयोग करने का अधिक प्रचलन हैं। जिससें चिकित्सा पद्धति अधिक सरल बन गयी है। प्रथम तीन रंगों के समूह में से प्रायः नीला रंग, अन्तिम रंगों के समूह में से नारंगी एवं बीच के हरे रंग का अधिकतर उपयोग किया जाता है। परन्तु विशेष एवं लम्बे रोगों की स्थिति में बैंगनी एवं लाल रंग का भी उपयोगी किया जा सकता है। रोगी के लिये कौनसी किरणों का उपचार किया जाय, यह रोग की स्थिति पर निर्भर करता है।

	पित्त प्रकोप	कफ प्रकोप	वात प्रकोप
जीभ का रंग	लाल	सफेद	मैली
मुँह की दशा	कण्ठ सूखना	मुंह या नाक से	मुंह सुखना

		अधिक बलगम आना	
आवाज	स्पष्ट	भारी	कर्कश
मुँह का स्वाद	कड़वा	फीका	खराब
प्यास	ज्यादा	कम	अधिक
भूख	अधिक	कम	कभी कम,
कभी ज्यादा			
पाखाना	सख्त	नरम	कब्ज
पेशाब की मात्रा	गहरा पीला	सफेद	गंदला
पेशाब की मात्रा	कम	अधिक	कम
आंख की मात्रा	लाली वाला	सफेद	गंदला
पसीना	बहुत ज्यादा	कम	ज्यादा
जिस्म	दुबला	मोटा	साधारण
त्वचा	गर्म	ठंडी	खुश्व एवं शुष्क

तीन रंग की विशेषताएँ

नारंगी रंग की विशेषताएँ

नारंगी रंग शरीर के कमजोर तथा निष्क्रिय अंगों को मजबूत एवं गतिशील बनाता है। पाचन शक्ति सुधारता है। भूख न लगने वाले रोगों को दूर करता है। इस रंग का प्रभाव गर्म, उत्तेजक (Stimulating) शक्तिवर्धक एवं विस्तारक (Expending) होने से सर्दी से होने वाले रोगों में विशेष लाभदायक सिद्ध होता है। नारंगी रंग का प्रभाव पीले रंग की अपेक्षा अधिक व लाल रंग की अपेक्षा कम गर्म प्रकृति का होता है। आमाशय, तिल्ली, लीवर, आंतों, फेंफड़ों व हाथ–पैर के रोगों में इसका अधिक अनुकूल प्रभाव पड़ता है। यह आयोडीन की कमी मिटाता है। रक्त मे लाल कण बढाता है। मांसपेशियां स्वस्थ बनाता है और झुर्रियां मिटाने में सहायक होता है। रक्त संचालन एवं स्नायु संस्थान को सक्रिय बनाता है। गतिहीन अंगों की जड़ता दूर कर उसमें गति लाने की क्षमता रखता है। भूख न लगना, गैस, जोड़ों का दर्द, खांसी, दमा, बच्चों की बिस्तर में पेशाब करने की आदत, निम्न रक्त चाप, स्नायु दुर्बलता आदि रोगों को मिटाने की अद्‌भुत क्षमता रखता है। सुस्ती आने, जम्भाइयाँ लेने, अधिक नींद आने, नाखून नीले पड़ जाने आदि रोगों में नारंगी रंग काफी लाभप्रद होता है।

नारंगी रंग के सेवन से पेट की गैस दूर होती है। अम्लता वाले रोगियों को विशेष लाभ होता है। खून में लाल कणों की वृद्धि होती है। वृद्धों के लिये ताकत की दवा के समान होता है। स्त्रियों को माहवारी के समय दर्द होने अथवा कम आने

पर नारंगी पानी पीने तथा लाल तेल की मालिश नस्लें और कमर पर करने से लाभ होता है। नारंगी पानी पीने से मलेरिया से बचाव होता है। बारी बारी के अन्तराल से बुखार आने पर जिस दिन बुखार नहीं आया हुआ हो, मुंह फीका हो, उस दिन नारंगी रंग का पानी देना चाहिए, परन्तु बुखार वाले दिन नीला पानी देना अधिक प्रभावकारी होता है।

नारंगी रंग मानसिक प्रभाव की दृष्टि से साहस, उत्साह एवं इच्छाशक्ति बढ़ाने में सहायक होता है। नारंगी रंग की दवा का प्रयोग सदैव भोजन या नाश्ते के 15 मिनट बाद और 30 मिनट के भीतर करना चाहिये।

हरे रंग की विशेषताएँ

हरा रंग गर्म और ठण्डे रंग के बीच का रंग होने से गर्मी तथा सर्दी के प्रभावों को संतुलित करता है। यह शरीर की गन्दगी बाहर निकालने, शरीर का ताप सन्तुलित रखने, कब्ज मिटाने तथा खून को साफ करने में विशेष सहायक होता है। मानसिक दृष्टि से हरा रंग राग एवं द्वेष को घटाकर समभाव लाने में सहायक तथा मन को प्रसन्न रखने वाला होता है। शरीर के विषैले तत्त्वों को शरीर से बाहर निकाल फैंकने की अद्भुत क्षमता के कारण छूत की बीमारियों के निवारण में यह बहुत ही उपयोगी होता है।

अल्सर, टाईफाइड, चेचक, सूखी खाँसी, खुले घाव, नासू पथरी, रक्तचाप, मिरगी, हिस्टीरिया, मुंह में छाले तथा शरीर के किसी भी भाग में पीला पीब पड़ने की अवस्था में उनको नष्ट करने में काफी लाभप्रद होता है। आँतों, गुर्दों, मूत्राशय, त्वचा, कमर व पीठ के नीचे के अंगों से संबंधित रोगों में हरा रंग अधिक प्रभावशाली होता है। शरीर में इस रंग की कमी से विभिन्न चर्म रोग तथा रक्त दोषों की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। नेत्र रोगों में भी यह विशेष लाभकारी होता है।

मोतिया बिन्द पकने से पूर्व नियमित हरे पानी से आंखें धोने से मोतिया बिन्द (Catract) होने की संभावनाएँ कम हो जाती है। चर्म रोग में हरा पानी पीने तथा नीला तेल रोग ग्रस्त त्वचा पर अथवा दाद पर लगाने से रोग जड़ मूल से नष्ट हो जाता है।

हरे रंग की दवा का प्रयोग सदैव प्रातःकाल खाली पेट या आधा घण्टे से एक घण्टे भोजन के पहले करना चाहिये। हरड, आंवला, नीम, हरी सब्जियों में हरी किरणों के तत्त्व अधिक होते हैं।

नीले रंग की विशेषता

नीला रंग ठण्डा, शान्तिदायक, कीटाणुनाशक (Antiseptic) एवं सिकुड़न वाले स्वभाव का होने से गर्मी के प्रकोप से उत्पन्न रोगों में विशेष प्रभावशाली होता है। इसके उपयोग से मानसिक तनाव कम होता है, तथा साधक आध्यात्मिक विकास

एवं ध्यान में सरलतापूर्वक विकास कर सकता है। कीटाण नाशक होने के कारण मवाद पड़ने की अवस्थाओं में काफी लाभप्रद होता है। शरीर की गर्मी, हाथ पैरों की जलन, प्यास की अधिकता, तेज बुखार, हैजा, अर्जीर्ण, दस्त, अनिद्रा, मिरगी, पागलपन, हिस्टीरिया, उच्च रक्तपात, मूत्रावरोध, मूत्र में जलन, शरीर में किसी प्रकार का जहर फैल जाना, जैसे रोगों में नीले रंग की दवा काफी लाभप्रद होती है। नीले रंग की दवा शरीर के अन्दर अथवा बाहर से बहने वाले खून को बंद करती है। गर्मी से गला पड़ने पर नीले पानी के गरारे से लाभ होता है। गले, गर्दन, मुँह, मस्तिष्क एवं सिर से संबंधित रोगों पर नीले रंग का अधिक अनुकूल प्रभाव पड़ता है। नीले रंग का प्रयोग सदैव भोजन या नाश्ता के आधा घण्टे पूर्व करना चाहिए।

लकवा, सन्धिप्रदाह, छोटे जोड़ो का दर्द (गंठिया), विभिन्न वात, कम्पनजन्य रोग व ठण्ड से उत्पन्न विकार और अधिक कब्ज की शिकायत में नीले रंग का प्रयोग नहीं करना चाहिए। नीले रंग के दुरूपयोग में होने वाले कष्ट और विकार नारंगी या लाल रंग के उचित प्रयोग से दूर हो जाते हैं।

सूर्य तप्त पानी लेने की विधि

जब तक पानी सूर्य की गर्मी से तप्त न हो उसका उपयोग नहीं करना चाहिए, ठण्डा होने के बाद ही करना चाहिए। पानी को ठण्डा करने के लिए फ्रिज आदि अप्राकृतिक उपकरणों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

साधारणतया प्रति वयस्क व्यक्ति के लिये सूर्यतप्त पानी की मात्रा एक औंस, पुराने रोगों में प्रायः दिन में तीन खुराके छः छः घण्टें के अन्तर में देना काफी होता है। रोग की तीव्र अवस्था में खुराक को बढ़ाया भी जा सकता है एवं अन्तराल (बीच की अवधि) भी कम की जा सकती है। अलग अलग रोगों की स्थिति में दो रंगों का पानी बारी–बारी या मिश्रण के रूप में भी दिया जा सकता है। कमजोर व्यक्तियों के लिए सफेद कांच के बर्तन में तैयार सूर्य तप्त पानी शक्तिदायक औषधि का कार्य करता है।

चीनी या मिश्री की दवा तैयार करने की विधि

कई बार वर्षा, बादल, धुन्ध आदि के कारन रंगीन बोतलों में सूर्यतप्त पानी तैयार करना कठिन होता हैं, तब पानी के स्थान पर सूर्य किरण सिंचित चीनी या मिश्री की दवा काम में लाई जा सकती है। चीनी की दवा बनाने के लिये जिस रंग की दवा बनानी हो, उस रंग की एक सूखी और अन्दर बाहर से साफ बोतल लें। उसको तीन चौथाई दानेदार चीनी या मिश्री से भर लें। बोतल का मुख बन्द कर प्रतिदिन छः से आठ घण्टे धूप में रखें ओर दिन में एक दो बार बोतल को अच्छी तरह हिला लें, ताकि चीनी के समसत कण पर सूर्य किरणों का एक साथ प्रभाव पड़ सके। इस प्रकार 40 से 60 दिन तक चीनी को धूप दिखाने से चीनी में

रोगनिवारक गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार तैयार की गई चीनी तीन माह तक स्थायी रूप से प्रभावशाली बनी रह सकती है। तीन माह पश्चात पुनः तीन दिन ध ूप में रख देने से उसमें पुनः रोगनाशक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। वैसे बीच में समय समय पर धूप दिखाने से चीनी की रोग निवारक क्षमता बढ़ जाती है।

चीनी की एक खुराक प्रायः एक ग्राम होती है। बच्चों को उनकी आयु के अनसार कम खुराक देनी चाहिए।

सूर्यतप्त तेल तैयार करने की विधि

जिस रंग का तेल तैयार करना हों, उस रंग की बोतल में तीन चौथाई भाग तेल सें भर कर चीनी दवा की भांति 40 से 60 दिन तक धूप में रखने से वह तेल एक रोगनाशक और दर्दनाशक दवा बन जाता है। इस प्रकार तैयार किया गया सूर्यतप्त तेल अगले तीन महीनों तक दवा के रूप में काम में लिया जा सकता है। तीन मास पश्चात पुनः तीन दिन धूप दिखाकर उसे पुनः चार्ज कर रोगनाशक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

सूर्यतप्त तेल भी तीनों रंगों में बनाये जा सकते हैं। परन्तु नीले रंग की बोतल में तैयार किया गया नारियल का तेल अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होता है। नारंगी रंग की बोतल में तिल का तेल बनाना अधिक अच्छा रहता है, परन्तु अलसी, सरसों तथा जैतून का तेल भी बनाया जा सकता है। हरे रंग की बोतल में सरसों के तेल की दवा बनाना ज्यादा उपयुक्त रहता है, परन्तु नारियल या अलसी का तेल भी बनाया जा सकता है।

नीले तेल के विशेष प्रयोग/लाभ

1. नीले तेल की सिर में मालिश करने से सिर दर्द, अनिद्रा, बुखार दूर होता है। दिमागी कार्य की क्षमता बढ़ती है। स्नायु तंत्र शांत होता है।
2. मच्छर अथवा विषैले जानवरों के क़ाटने पर अथवा जलने पर नीला तेल लगाने से तुरन्त आराम मिलता है।
3. नीला तेल गर्म करके कान में डालने से कान का दर्द, शीघ्र ठीक होता है।
4. बवासीर के मसों पर नीला तेल बहुत गुणकारी होता है।
5. बच्चों के दांत निकलते समय नीले तेल की सिर में मालिश करने से दांत आराम से निकल जाते हैं

शरीर पंचभूत का पुतला है। इसी से कवि ने गाया हैः

पवन, पानी, पृथ्वी, प्रकाश और आकाश,
पंचभूत के खेल से, बना जगत का पाश।

इस शरीर का व्यवहार दस इन्द्रियों और मन के द्वारा चलता है। दस इन्द्रियों में पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं, अर्थात् हाथ, पैर, मुँह, जननेन्द्रिय और गुदा। ज्ञानेन्द्रियाँ भी पांच हैं—स्पर्श करने वाली त्वचा, देखने वाली आंख, सुनने वाला कान, सूंघने वाली नाक और स्वाद या रस को पहचानन वाली जीभ। मन के द्वारा हम विचार करते हैं। कोई कोई मन को ग्यारहवीं इंन्द्रिय कहते हैं। इन सब इन्द्रियों का व्यवहार जब सम्पूर्ण रीति से चलता है, तब शरीर पूर्ण स्वस्थ कहा जा सकता है। ऐसा आरोग्य बहुत ही कम देखने में आता है।

शरीर के अन्दर चलने वाली अदभुत क्रियाओं पर इन्द्रियों का स्वस्थ रहना निर्भर करता है। शरीर के सब अंग नियमानुसार चलें, तो शरीर का व्यवहार अच्छी तरह से चलता है। एक भी अंग अटक जाय, तो गाड़ी चल नहीं सकती। उसमें भी पेट अपना काम ठीक तरह से न करे, तो शरीर ढीला पड़ जाता है। इसलिए अपच या कब्जियत की जो लोग अवगणना करते हैं, वे शरीर के धर्मको जानते ही नहीं। इन दो रोगों से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

महात्मा गाँधी, 29. 8. 1942

स्वराज प्रकाशन समूह